सप्ततिकाप्रकरण

(षष्ठ कर्मग्रन्थ)

पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री रचित
हिन्दी व्याख्या आदि सहित

सम्पादक—
धवल, जयधवल आदि अनेक ग्रन्थों के सम्पादक
पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक—
श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल
रोशन मुहल्ला, आगरा
वीर निर्वाण सम्वत् २४७४
ईसवी सन् १९४८

प्रकाशक—
बा० दयालचन्द जौहरी
बा० जवाहरलाल नाहटा
मंत्री—
आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल
आगरा

प्रथम संस्करण १०००
मूल्य ४)

मुद्रक
पी० घोष,
रक्षा प्रेस, कॉमच्छाटक, बनारस।

समर्पण

कर्मशास्त्र के गभीर अभ्यासी एव धर्मनिष्ठ प० हीराचन्द देवचन्द्र को सादर समर्पित ।

मन्त्री

आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल

आगरा ।

श्रीयुत हीराचंद्रभाई का परिचय।

प्रस्तुत छठा कर्मग्रन्थ जिनको समर्पित किया गया है उनका संक्षिप्त परिचय वाचकोंको कराना जरूरी है वैसा ही रसप्रद भी है। यों तो हीराभाई को गुजरात के जैनसमाज खासकर श्वेताम्बर समाज के धार्मिक अभ्यास में रस लेनेवालों में से कोई भी ऐसा न होगा जो उन्हें एक या दूसरी तरह से जानता न हो। राजपूताना, पंजाब आदि प्रदेशों के धार्मिक जिज्ञासु श्वेताम्बर भाइयों में से भी अनेक व्यक्ति उन्हें उनकी कृति के द्वारा भी जानते ही हैं, फिर भी उनका जीवनपरिचय शायद ही किसी को हो। एक तो वे स्वभाव से बहुत लज्जालु प्रकृति के हैं और किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि से दूर रहनेवाले हैं। दूसरे वे अपने प्रिय विषय का अध्ययन अध्यापन और चिंतन-मनन को छोड़कर किसी भी सामाजिक आदि अन्य प्रवृत्ति में नहीं पड़ते। इसलिए उनका जीवन उनके परिचय में आनेवालों के लिए भी एक तरह से अपरिचित-सा है। मैं स्वयं लगभग ३५ वर्षों से उनके परिचय में आया हूँ तो भी पूरे तौर से उनका जीवन नहीं जान पाया। अगर उनके सदा सहवासी, निकट मित्र और धर्मबन्धु सब्रह्मचारी पंडित भगवानदास हर्षचन्द्र मुझको संक्षिप्त परिचय लिखकर न भेजते तो मैं विश्वस्त रूपसे निम्न पंक्तियों में उनका परिचय देने में असमर्थ ही रहता।

भाई हीराचंद वढवाण शहर जो कि झालावाड में वढवाण केम्प जंक्शन के निकट है और पुरानी ऐतिहासिक भूमि है, वहाँ के निवासी

है। उनका जन्म विक्रम सं० १९४७ के चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन—जो भगवान महावीर का जन्म दिन है—हुआ। उनके पिता का नाम दयचन्द्र और माता का नाम अम्बा था। वे तीन भाई हैं। हीराचंद भाई की प्राथमिक गुजराती सम्पूर्ण शिक्षा वढवाण में ही समाप्त हुई। १ तेरह वर्ष की उम्र में धार्मिक शिक्षा के लिए मेसाणा गये जहाँ कि यशोविजय जैन पाठशाला स्थापित है। उस पाठशाला में दो वर्ष तक प्राथमिक संस्कृत भाषा का तथा प्राथमिक जैन प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन करके व विशेष अभ्यास के लिए अन्य चार मित्रों के साथ भड़ौच गये।

उस समय भड़ौच में जैन कर्मशास्त्र और आगमशास्त्र के विख्यात श्रीयुत अनूपचंद मलूकचंद जैन समाज में सुप्रसिद्ध थे। जिनका एक मात्र मुख्य कार्य जैन शास्त्र विषयक चिन्तन-मनन, लेखन ही था। जैसे दिगम्बर समाज में मुरेना पं० गोपालदास बैरया के कारण उस जमाने में प्रसिद्ध था, वैसे ही भड़ौच भी श्वेताम्बर समाज में श्रीयुत अनूपचन्दभाई के कारण आकर्षक था। श्रीयुत अनूपचंदभाई के निकट रहकर हीराचन्द भाई ने छह महीने में छह कर्मग्रन्थ तथा कुछ अन्य महत्त्व के प्रकरणों का अध्ययन आकलन कर लिया। इसके बाद वे मेसाणा गये और अनूपचंदभाई की सूचना के अनुसार विशेष संस्कृत अध्ययन करने में लग गये। आचार्य हेमचन्द्रकृत व्याकरण तथा काव्य आदि ग्रन्थों का ठीक ठीक अध्ययन करने के बाद वे मेसाणा में ही धार्मिक अध्यापक रूप से नियुक्त हुए। और करीब पाँच वर्ष उसी काम को करते रहे। वहाँ से और भी विशेष अध्ययन के लिए वे बनारस यशोविजय जैन पाठशाला में गये पर तबियत के कारण वे वहाँ विशेष रह न सके। वहाँ से

लौटकर मेसाणा में ही करीब डेढ वर्ष तक वे धार्मिक अध्यापन कराते रहे। फिर वे अहमदाबाद पहुँचे। जहाँ जाकर उन्होंने कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्मविषयक आकर ग्रन्थों का गहरा आकलन किया।

हीराभाई ने आचार्य मलयगिरिकृत टीका सहित पंचसंग्रह का गुजराती अनुवाद करके विक्रम संवत् १९९२ में प्रथमखण्ड में प्रकाशित किया और उसका दूसरा खण्ड विक्रम संवत् १९९७ में प्रकाशित किया। इस अनुवाद के द्वारा वे कर्मशास्त्र के सभी जिज्ञासुओं तक पहुँच गये।

आज उनकी उम्र ५७ वर्ष की है। उन्होंने प्रथम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके उसे अभी तक सुचारु रूप से निभाया है। वे प्रकृति से इतने भद्र और सरलचेता हैं, जिसे देखकर मैं तो अनेक बार अचरज में पड़ गया हूँ। मन, वचन और कर्म में एकरूपता कैसी होती है या होनी चाहिये, इसके वे एक सजीव आदर्श हैं। वे कर्मशास्त्र के पारगामी होकर भी अन्य कैसे विद्वानों की तरह अकर्म या सेवामारी नहीं है। जब देखो तब वे कार्यरत ही दिखाई देते हैं और दूसरों की भलाई करने या यथा-सम्भव दूसरे के बतलाये काम कर देने में बिल्कुल नहीं हिच किचाते। उनको जाननेवाला कोई भी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—हीराभाई-हीराभाई जैसे मधुर सम्बोधन से निःसंकोच अपना काम करने को कहता है और हीराभाई—मानों करुणा और नम्रताकी मूर्ति हो—एक सी प्रसन्नता से दूसरों के काम कर देते हैं।

वे मात्र श्वेताम्बरीय कर्मशास्त्रों के अध्ययन में ही सन्तुष्ट नहीं रहे। ज्यों ज्यों दिगम्बरीय कर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ प्रसिद्ध होते गये त्यों त्यों उन्होंने उन सभी ग्रन्थों का आकलन करने का भी यथा-सम्भव प्रयत्न किया

हैं। उनका जन्म विक्रम सं० १९४७ के चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन—जो भगवान महावीर का जन्म दिन है—हुआ। उनके पिता का नाम देवचन्द्र और माता का नाम अम्बा था। वे तीन भाई हैं। हीराचन्द भाई की प्राथमिक गुजराती सम्पूर्ण शिक्षा बन्थली में ही समाप्त हुई। वे तेरह वर्ष की उम्र में धार्मिक शिक्षा के लिए मेसाणा गये जहाँ कि यशोविजय जैन पाठशाला स्थापित है। उस पाठशाला में दो वर्ष तक प्राथमिक संस्कृत भाषा का तथा प्राथमिक जैन प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन करके वे विशेष अभ्यास के लिए अन्य चार मित्रों के साथ भड़ौंच गये।

उस समय भड़ौंच में जैन कर्मशास्त्र और आगमशास्त्र के विख्यात श्रीयुत अनूपचन्द मलूकचंद जैन समाज में सुप्रसिद्ध थे। जिनका एक मात्र मुख्य कार्य जैन शास्त्र विषयक चिंतन-मनन, लेखन ही था। जैसे दिगम्बर समाज में मुरेना पं० गोपालदास बैरया के कारण उस जमाने में प्रसिद्ध था, वैसे ही भड़ौंच भी श्वेताम्बर समाज में श्रीयुत् अनूपचंदभाई के कारण आकर्षक था। श्रीयुत अनूपचन्दभाई के निकट रहकर हीराचन्द भाई ने छह महीने में छह कर्मग्रन्थ तथा कुछ अन्य महत्त्व के प्रकरणों का अध्ययन आकलन कर लिया। इसके बाद वे मेसाणा गये और अनूपचन्दभाई की सूचना के अनुसार विशेष संस्कृत अध्ययन करने में लग गये। आचार्य हेमचन्द्रकृत व्याकरण तथा काव्य आदि ग्रन्थों का ठीक ठीक अध्ययन करने के बाद वे मेसाणा में ही धार्मिक अध्यापक रूप से नियुक्त हुए। और करीब पाँच वर्ष उसी काम को करते रहे। वहाँ से और भी विशेष अध्ययन के लिए वे बनारस यशोविजय जैन पाठशाला में गये, पर तबियत के कारण वे वहाँ विशेष रह न सके। वहाँ से

लौटकर मेसाणा में ही करीब डेढ वर्ष तक वे धार्मिक अध्यापन कराते रहे। फिर वे अहमदाबाद पहुँचे। जहाँ जाकर उन्होंने कर्मप्रकृति, पंचसग्रह आदि कर्मविषयक आकर ग्रन्थों का गहरा आकलन किया।

हीराभाई ने आचार्य मलयगिरिकृत टीका सहित पचसंग्रह का गुजराती अनुवाद करके विक्रम सवत् १९९२ में प्रथमखण्ड में प्रकाशित किया और उसका दूसरा खण्ड विक्रम सवत् १९९७ में प्रकाशित किया। इस अनुवाद के द्वारा वे कर्मशास्त्र के सभी जिज्ञासुओं तक पहुँच गये।

आज उनकी उम्र ५७ वर्ष की है। उन्होंने प्रथम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके उसे अभी तक सुचारु रूप से निभाया है। वे प्रकृति से इतने भद्र और सरलचेता हैं, जिसे देखकर मैं तो अनेक बार अचरज में पड़ गया हूँ। मन, वचन और कर्म में एकरूपता कैसी होती है या होनी चाहिये, इसके वे एक सजीव आदर्श हैं। वे कर्मशास्त्र के पारगामी होकर भी अन्य वैसे विद्वानों की तरह अकर्म या सेवाग्राही नहीं है। जब देखो तब वे कार्यरत ही दिखाई देते हैं और दूसरों की भलाई करने या यथा-सम्भव दूसरे के बतलाये काम कर देने में बिल्कुल नहीं हिच किचाते। उनको जाननेवाला कोई भी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—हीराभाई-हीराभाई जैसे मधुर सम्बोधन से नि सकोच अपना काम करने को कहता है और हीराभाई—मानों लघुता और नम्रताकी मूर्ति हो—एक सी प्रसन्नता से दूसरों के काम कर देते हैं।

ये मात्र श्वेताम्बरीय कर्मशास्त्रों के अध्ययन में ही सतुष्ट नहीं रहे। ज्यों ज्यों दिगम्बरीय कर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ प्रसिद्ध होते गये त्यों त्यों उन्होंने उन सभी ग्रन्थों का आकलन करने का भी यथा-सम्भव प्रयत्न किया

है। हीरामाई की शास्त्र जिज्ञासा और परिश्रमशीलता का मैं साक्षी हूँ। मैंने देखा है कि आगम, टीकाएं या अन्य कोई भी जैन ग्रन्थ सामने आया तो उसे वे पूरा करके ही छोड़ते हैं। उनका मुख्य आकलन तो कर्मशास्त्र, खासकर श्वेताम्बरीय समग्र कर्मशास्त्र का है पर इस आकलन के आसपास उनका शास्त्रीय वाचन विस्तार और चिन्तन-मनन इतना अधिक है कि जैन सम्प्रदाय के तत्वज्ञान की छोटी बड़ी बातों के लिए वे जीवित ज्ञानकोष जैसे बन गये हैं।

अन्य साम्प्रदायिक विद्वानों की तरह उनका मन भाव सम्प्रदायगामी व सकुचित नहीं है। उनकी दृष्टि सत्य जिज्ञासा की ओर मुख्यतया मैंने देखी है। इससे वे सामाजिक, राष्ट्रीय या मानवीय कार्यों का मूल्याङ्कन करने में दुराग्रह से गल्ती नहीं करते। गुजरात में पिछले लगभग ३५ वर्षों में जो जैन धार्मिक अध्ययन करनेवाले पैदा हुए हैं चाहे वे गृहस्थ हों या साधु-साध्वी, उनमें से शायद ही कोई ऐसा हो जिसने थोड़ा या बहुत हीराभाई से पढ़ा या सुना न हो। कर्मशास्त्र के अनेक जिज्ञासु साधु साध्वी और श्रावक-श्राविकाएं हीराभाई से पढ़ने के लिए लालायित रहते हैं और वे भी आरोग्य की बिना परवाह किये सबको सतुष्ट करने का यथा समय प्रयत्न करते रहते हैं। यही है इनके शास्त्रीय तपकी संक्षिप्त कथा।

मैंने इसी सन् १९१६ १९१७ में कर्मग्रन्थों के हिंदी अनुवाद का कार्य आग्रा तथा काशी में प्रारम्भ किया और जैसे जैसे अनुवाद कार्य करता गया वैसे वैसे उस कर्मग्रन्थ के हिंदी अनुवाद की प्रेसकोपी प्रेस में छपने के लिए भेजने के पहले हीराचदभाई के पास देखने व सुधार के लिए भेजता गया। १९२१ तक में चार हिंदी कर्मग्रन्थ तैयार

किये जो हीराचंदभाई ने छपने के पहले ही देख लिये थे। इसके बाद बहुत वर्षों तक आगे के अनुवाद का काम मेरी अन्यान्य प्रवृत्ति के कारण स्थगित था। पर आखिर को बाकी के दो कर्मग्रन्थों का हिंदी अनुवाद भी तैयार हो ही गया। पञ्चम कर्मग्रन्थ का अनुवाद तो पं० कैलासचंद्रजीने किया और प्रस्तुत छठे कर्मग्रन्थका अनुवाद पं० फूलचंद्रजी ने किया है। पञ्चम और षष्ठ इन दोनों हिंदी अनुवादों को भी छपने के पहले श्रीयुत हीराभाई ने पूरी सावधानी से देख लिया और अपनी व्यापक ग्रन्थोपस्थिति तथा सूक्ष्म सूझ से अनेक स्थलों में सुधार सूचित किये। उनके सुझाये हुए सुधार इतने महत्त्व के और इतने सच्चे थे कि जिनको देखकर पंडित कैलासचंदजी तथा पंडित फूलचंद्रजी जैसे कर्मशास्त्री को भी हीराचंदभाई के साक्षात् परिचय के बिना ही उनकी शास्त्र निष्ठा की ओर आकर्षित होते मैंने पाया।

मैंने जैन समाज के जुदे जुदे फिरकों में प्रसिद्ध ऐसे अनेक कर्म शास्त्रियों को देखा है, पर श्रीयुत हीराचंदभाई जैसे सरल, उदार और सेवापरायण चेता कर्मशास्त्री विरल ही पाये हैं। आज वे अहमदाबाद में रहते हैं और जैन प्राच्य-विद्या के अध्ययन, अध्यापन और संशोधन के उद्देश से स्थापित एक संस्था में अपने धर्मबंधु पं० भगवानदास के साथ अध्यापन कार्य करते हैं। उनकी धर्मभीरुता और आर्थिक संतुष्टि एक सच्चे धर्मशास्त्रके अभ्यासी को शोभा देनेवाली है जो इस युग में विरल होने के कारण अनुकरणीय है।

—सुखलाल संघवी

बार यही कहा कि कुछ भी हो, पर छहों कर्मग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद तो मण्डल की ओर से पूरा कराना ही चाहिये। आखिर को पं० फूलचन्द्रजी को छठे कर्मग्रन्थ का अनुवाद का कार्य सौंपवाया जो अभी प्रकाशित हो रहा है। करीब ३० वर्ष जितने लम्बे समय में अनेक विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी जो छहों कर्मग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद पूरा होकर प्रकाशित हुआ है, इसका मुख्य यश मेरी राय में बाबू दयालचन्द जी को है। उनकी नम्र एवं उदार लगन सतत न होती तो शायद ही मेरे द्वारा चार अनुवाद और पीछे से अन्य द्वारा दो अनुवाद इस तरह पूर्ण होकर प्रकाशित होते।

कर्मग्रन्थों के ऊपर पुरानी संस्कृत प्राकृत टीकाएँ तथा गुजराती अनेक टब्बे मौजूद हैं और छपे भी हैं। फिर भी मण्डल के द्वारा प्रकाशित ये छहों हिन्दी अनुवाद अपना बिल्कुल अनोखा स्थान रखते हैं। इन हिन्दी अनुवादों के साथ जो प्रस्तावना परिशिष्ट और टिप्पण आदि का परिकर है वह अन्य किसी कर्मग्रन्थ के प्रकाशन के साथ नहीं है। अपना निजी व्यक्तित्व बाद करके केवल सत्य की दृष्टि से कहना हो तो मैं इतना कह सकता हूं कि मण्डल ने छहों कर्मग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करके श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों फिरकों में कर्म-तत्त्व विषयक शास्त्रों का अनुवाद, संपादन और प्रकाशन का एक नया ही समयानुकूल मार्ग दिखाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि हिंदी अनुवाद सर्वांश पूर्ण है। आज की नई परिस्थिति के अनुसार तो वे भी अनेक संशोधन-परिवर्धन के पात्र हैं। पर उनका प्रस्थान इस दिशा में सर्व प्रथम है और अन्य प्रकाशनों का प्रेरक बना है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

यहाँ तो इतना ही वक्तव्य है कि मण्डल के द्वारा अन्यान्य कार्यों के साथ जो छह हिंदी कर्मग्रथानुवाद तैयार होकर प्रकाशित हुए हैं उसके मूल में प्रेरक रूप से बाबू दयालचदजी का ही हाथ रहा है जिसका मैं साक्षी हूँ। कहाँ से, किसके पास से, किस तरह पैसा जुटाना, किस तरह अन्य चिंताएँ दूर करना, किस तरह पडितों और अन्य कार्यकर्ताओं से पेश आना, उनसे विनम्र भाव से काम लेना इत्यादि बातें जैसी बाबू दयालचंदजी में सहज हैं वैसी अन्यन मैंने विरल पाई हैं। इसलिये इस अन्तिम कर्मग्रथ के अनुवाद की समाप्ति के साथ जैसा मेरा एक कार्य पूरा होता है वैसा ही बाबू दयालचदजीका शुभ सकल्प भी पूरा होता है। मैं आशा करता हूँ कि इससे कर्मशास्त्र के अभ्यासियों तथा स्वयं बाबू दयालचदजी को सन्तोष-लाभ होगा।

सुखलाल सघवी

श्रीमान् पं० सुखलालजी ने मेरे विषय में दो शब्द लिखकर मण्डल की स्थापना का श्रेय मुझे ही दिया है किन्तु वस्तुतः मंडलकी स्थापना सन् १९०६ में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिकी प्रेरणा से देल्ही में हुई है और इसमें मैं अकेला ही नहीं था। स्व० श्री दूलेल सिंहजी टीकमचन्दजी जौहरी देल्ही और श्री जवाहर लालजी नाहटा, सिकन्दराबाद का पूर्ण सहयोग रहा है।

दयालचन्द्र
आगरा।

सम्पादकीय वक्तव्य

सन् ४२ की बात है। जीवन में वस्तुओं की मँहगाई का अनुभव होने लगा था। आर्थिक सन्तुलन रखने के लिये अधिक श्रम करने का निश्चय किया। फलतः श्रीमान् प० सुमेरचन्द्र जी सफवी से बातचीत की। उन्होंने सप्ततिका का अनुवाद करने के लिये मुझसे आग्रह किया। यद्यपि मेरा झुकाव कर्मप्रकृति की ओर विशेष था। फिर भी तत्काल इसका अनुवाद कर देने का ही मैंने निश्चय किया। अनुवाद कार्य तो उसी वर्ष पूरा कर लिया था पर छपाई आदि की विशेष सुविधा न हो सकने के कारण यह सन् ४६ के मध्य तक यों ही पड़ा रहा।

अनुवाद में आचार्य मलयगिरि कृत टीका का उपयोग हुआ है। विशेषार्थ उसी के आधार से लिखे गये हैं। कहीं कहीं प० जयसोम रचित गुजराती टबे का भी उपयोग किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये यथास्थान कोष्ठक दिये गये हैं। इनके बनाने में मुनि जीवविजय जी कृत सार्थ कर्मग्रन्थ द्वि० भाग से सहायता मिली है।

टिप्पणियाँ दो प्रकार की दी गई हैं। प्रथम प्रकार की टिप्पणियाँ वे हैं जिनमें सप्ततिका के विषय का गाथाओं से साम्य सूचित होता है। और दूसरे प्रकार की टिप्पणियाँ वे हैं जिनमें कुछ मान्यताओं के विषय में मतभेद की चर्चा की गई है। ये टिप्पणियाँ हिन्दी में दी गई हैं। आवश्यकतानुसार उनकी पुष्टि में प्रमाण भी दिये गये हैं।

कुछ मान्यताएँ एवं सज्ञाएँ ऐसी हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर धार्मिक साहित्य में कुछ अन्तर से व्यवहृत होने लगी हैं। इस विषय में हमने श्वेताम्बर परम्परा का पूरा ध्यान रखा है।

अहमदाबाद निवासी पं० हीराचन्दजी कर्मशास्त्र के अच्छे विद्वान् हैं। प्रस्तुत अनुवाद इनके पास भेजा गया था। इन्होंने उसे पढ़कर

जो सुझाव भेजे थे तदनुसार संशोधन कर दिया गया है। फिर भी अनुवाद में गलती होना सम्भव है जिसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों का आभार मानता हूँ जिनकी यथा योग्य सहायता से मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ। सर्व प्रथम मैं जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलाल जी का चिर आभारी हूँ जिनके प्रेमवश मैंने इस काम को हाथ में लिया था। पं० हीराचन्द जी ने पूरे अनुवाद को पढ़कर अनेक सुझाव भेजने का कष्ट किया था। इससे अनुवाद को निर्दोष बनाने में बड़ी सहायता मिली है, इसलिये मैं उनका भी आभारी हूँ। 'मैं सप्ततिका का अनुवाद कर दूँ' यह प्रस्ताव मेरे मित्र पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने किया था। उन्होंने पं० सुखलाल जी से प्रारम्भिक बातचीत भी की थी। इस हिसाब से इस कार्य को चालना देने में पं० महेन्द्रकुमार जी का विशेष हाथ है अतः मैं इनका विशेष आभारी हूँ।

हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन व जैन आगम के अध्यापक पं० दलसुख जी मालवणिया का तो मैं और भी विशेष आभारी हूँ, इन्हीं के प्रयत्न से यह ग्रन्थ इतने जल्दी प्रकाश में आ रहा है। इन्होंने छपाई आदि में जहाँ जिस बात की कमी देखी उसे पूरा करके मेरी सहायता की है। मण्डल के मन्त्री बाबू दयालचन्दजी एक सहृदय व्यक्ति हैं। मूल ग्रन्थ के छप जाने पर भी प्रस्तावना के कारण बहुत दिन तक ग्रन्थ को प्रेस में रुकना पड़ा है फिर भी आप अपने सौजन्य पूर्ण व्यवहार को यथावत् निभाते गये। इसलिये इनका मैं सर्वाधिक आभारी हूँ।

बनारस।
मार्गशीर्ष कृष्णा ७
वीर नि० सं० २४७५

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

१—कर्म साहित्यकी क्रम परम्परा का निर्देश

परिभाषा—जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी अनेक प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। इनमेंसे औदारिक शरीर वर्गणा, वैक्रियिक शरीर वर्गणा, आहारक शरीर वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा इन वर्गणाओंको संसारी जीवद्वारा ग्राह्य माना गया है। संसारी जीव इन वर्गणाओंको ग्रहण करके विभिन्न शरीर, वचन और मन आदिकी रचना करता है। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन वर्गणाओंसे औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंकी रचना होती है। तैजस वर्गणाओंसे तैजस शरीर बनता है। भाषा वर्गणाएँ विविध प्रकारके शब्दोंका आकार धारण करती हैं। श्वासोच्छ्वास वर्गणा श्वासोच्छ्वासके काम आती है। हिताहितके विचारमें सहायता करनेवाले द्रव्यमनकी रचना मनोवर्गणाओंसे होती है। और ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म कार्मण वर्गणाओंसे बनते हैं। इन सबमें कर्म संसारका मूल कारण माना गया है। वैदिक साहित्यमें जिसका लिंग शरीररूपसे उल्लेख किया गया है वह ही जैनदर्शनमें कर्म शब्द द्वारा पुकारा जाता है।

वैसे तो संसारी जीवकी प्रतिक्षण जो राग द्वेष आदि रूप परिणति हो रही है। उसकी कर्म संज्ञा है। कर्मका अर्थ क्रिया है, यह अर्थ

---

(१) गोम्मटसार जीवकाण्डमें २३ प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। उनमेंसे आहार वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा ये संसारी जीवद्वारा ग्राह्य मानी गई हैं।

[illegible] इस प्रकार [illegible] परिस्थितिमें [illegible] प्रतीत होता है इसलिये
[illegible] क्योंकि [illegible] इस परिस्थितिके कारण ही जीवके
[illegible] हो रहा है। [illegible] इस परिस्थितिके कारण कर्मोंके
[illegible] सम्बद्ध हो जाते हैं और कालान्तरमें
व वैसी परिस्थितिके होनेमें निमित्त होते हैं, इसलिये इन्हें भी कर्म कह
[illegible] हैं। इन [illegible] कर्मोंके साथ संसारी जीवका एक क्षेत्राव
[illegible] है और उनका विवेक करना कठिन हो गया
है। [illegible] आ सकता है। जीवका लक्षण चेतना
[illegible] है और [illegible] अचेतन है। इस प्रकारके कर्मका
[illegible] विचार किया गया है उस कर्मसाहित्य
[illegible] है।

[illegible] इस विषयका विस्तृत और [illegible] स्वीकार किया है।
[illegible] है। इस [illegible] जैन साहित्यके बहुत बड़े
[illegible] है।

पूर्वगत कर्म साहित्य—भगवान महावीरके उपदेशोंका संकलन करते
[illegible] की गई थी। गणधरोंने (पट्-
[illegible]) [illegible] अङ्गोंमें विभाजित किया था। इनमेंसे
दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग बहुत विस्तृत था। इसके परिकर्म सूत्र
प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद थे। इनमेंसे पूर्वगतके
चौदह भेद [illegible] जिनमेंसे आठवें भेदका नाम कर्मप्रवाद था। कर्मविषयक
साहित्यका इसीमें संकलन किया गया था।

इसके सिवा अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद इन दो पूर्वोंमें भी
प्रसंगसे कर्मोंका वर्णन किया गया था।

पूर्वगत कर्म साहित्यके ह्रासका इतिहास—किन्तु धीरे धीरे काल-
दोषसे पूर्व साहित्य नष्ट होने लगा। भगवान महावीरके मोक्ष जानेके

बाद जो अनुबद्ध केवली और श्रुतकेवली हुए उन तक तो यह अंग पूर्वसम्बन्धी ज्ञान व्यवस्थित चला आया किन्तु इनके बाद इसकी यथावत् परम्परा न चल सकी। धीरे धीरे लोग इसे भूलने लगे और इस प्रकार मूल साहित्यका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। ऊपर हम मूलभूत जिस कर्म साहित्यका उल्लेख कर आये हैं। इसमेंसे कर्मप्रवादका तो लोप हो ही गया। केवल अग्रायणीय पूर्व और ज्ञानप्रवाद पूर्वका कुछ अंश बच रहा। तब श्रुतधारक ऋषियोंको यह चिन्ता हुई कि पूर्व साहित्यका जो भी हिस्सा शेष है उसका संकलन हो जाना चाहिये। इस चिन्ताका पता उस कथासे लगता है जो धवला प्रथम पुस्तकमें निबद्ध है। श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित अंग साहित्यके संकलनके लिये जिन तीन वाचनाओंका उल्लेख मिलता है वे भी इसी बातकी द्योतक हैं।

वर्तमान मूल कर्मसाहित्य और उसकी संकलनाका आधार—अबतक जो भी प्रमाण मिले हैं उनके आधारसे यह कहा जा सकता है कि कर्म साहित्य व जीवसाहित्यके संकलनमें श्रुतधर ऋषियोंकी एक चिन्ता ही विशेष सहायक हुई थी। वर्तमानमें दोनों परम्पराओंमें जो भी कर्मविषयक मूल साहित्य उपलब्ध होता है वह इसीका फल है। अग्रायणीय पूर्वका पाँचवीं वस्तुके चौथे प्राभृतके आधारसे षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका इन ग्रन्थोंका संकलन हुआ था और ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवीं वस्तुके तीसरे प्राभृतके आधारसे कषायप्राभृतका संकलन हुआ था। इनमेंसे कर्मप्रकृति, यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें माना जाता है कषायप्राभृत और षट्खण्डागम ये दो दिगम्बर परम्परामें माने जाते हैं। तथा कुछ पाठ भेदके साथ शतक और सप्ततिका ये दो ग्रन्थ दोनों परम्पराओंमें माने जाते हैं।

जैन इस साहित्यको पूर्व साहित्यका उत्तराधिकार प्राप्त है वैसे ही यह शेष कर्म साहित्यका आदि स्रोत भी है। आगे टीका, टिप्पनी

१—लेखकों या गुजराती टीकाकारों द्वारा अन्तर्भाष्य गाथाओंका मूल गाथा रूपसे स्वीकार किया जाना।

२—दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकाकी कतिपय गाथाओंका मूल गाथारूपसे स्वीकार किया जाना।

३—प्रकरणान्तरोंकी अन्य गाथाओंका मूल गाथारूपसे स्वीकार किया जाना।

जिन प्रतियोंमें गाथाओंकी संख्या ८१ ८२, ९१ या ९४ दी है उनमें इन अन्तर्भाष्य गाथाएँ, दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकाकी पाँच गाथाएँ और शेष प्रकरणान्तरोंकी अन्य गाथाएँ सम्मिलित हो गई हैं। इससे गाथाओंकी संख्या अधिक बढ़ गई है। यदि इन गाथाओंको अलग कर दिया जाता है तो इसकी कुल ७२ मूल गाथाएँ रह जाती हैं। इन पर चूर्णि और मलयगिरि आचार्यकी संस्कृत टीका ये दोनों पाई जाती हैं अतः इस आधारसे मूल गाथाओंकी संख्या ७२ निर्विवाद रूपसे निश्चित होती है। मुनि कल्याणविजयजीने आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्न शतक और सप्ततिकाकी[1] प्रस्तावनामें इसी आधारको प्रमाण माना है।

किन्तु मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे चूर्णिसहित जो सप्ततिका प्रकाशित हुई है उसमें उसके सम्पादक पं० अमृतलालजीने 'चउ पणवीसा सोलस' इत्यादि २५ नम्बरवाली गाथाको मूल गाथा न मानकर सप्ततिकाकी कुल ७१ गाथाएँ मानी हैं। उनका इस सम्बन्धमें यह वक्तव्य है—

'परंतु अमोए आ प्रकाशनमां सित्तेरीनी ७१ गाथाओज मूल तरीके मानी छे। तेनुं कारण ए छे के उपर्युक्त कर्मग्रन्थ द्वितीय विभागमां 'चउ पणुवीसा सोलस' (गा २५) ए गाथाने तेना सम्पादक श्री ए

१—देखो प्रस्तावना पृष्ठ १९ व २१।

मूल गाथा तरीके मानी लीधी छे परन्तु ए गाथाने चूर्णिकारे 'पाढतरं' लखीने पाठान्तर गाथा तरीके निर्देशी छे; एटले 'बंध पणुवीसा सोलस' गाथा मूलनी नथी ए माटे चूर्णिकारनो सचोट पुरावो होवाथी सित्तरी प्रकरणनी ७१ गाथाओ घटित थाय छे। आद्य गाथाने मंगल गाथा तरीके समजवाथी सित्तरीनी सित्तेर गाथाओ थई जाय छे।'

किन्तु इस गाथाके अन्तमें केवल 'पाढतर' ऐसा लिखा होनेसे इसे मूल गाथा न मानना युक्त प्रतीत नहीं होता। जब इस पर चूर्णि और आचार्य मलयगिरिकी टीका दोनों हैं तब इसे मूल गाथा मानना ही उचित प्रतीत होता है। हमने इसी कारण प्रस्तुत संस्करणमें ७२ गाथाएँ स्वीकार की हैं। इनमेंसे अन्तकी दो गाथाएँ विषयकी समाप्तिके बाद आई हैं अतः उनकी गणना नहीं करने पर ग्रन्थका सित्तरी यह नाम सार्थक ठहरता है।

ग्रन्थकर्ता—सप्ततिकाके रचयिता कौन थे, अपने पावन जीवनसे किस भूमिको उन्होंने पवित्र किया था, उनके माता पिता कौन थे, दीक्षा गुरु और विद्यागुरु कौन थे, इन सब प्रश्नोंके उत्तर पानेके वर्तमानमें कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सप्ततिका और उसकी दो टीकाएँ हमारे सामने हैं। कदाच नाम ठामके निर्णय करनेमें इनसे किसी प्रकारका सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि जब हम शतककी अन्तिम १०४ व १०५ नम्बरवाली गाथाओंसे सप्ततिकाकी मंगल गाथा और अन्तिम गाथाका क्रमशः मिलान करते हैं तो यह स्वीकार करनेको जी चाहता है कि बहुत सम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थोंके संकलयिता एक ही आचार्य हों।

जैसे सप्ततिकाकी मंगल गाथामें इस प्रकरणको दृष्टिवाद अंगकी एक बूँदके समान बतलाया है वैसे ही शतककी १०४ नम्बरवाली गाथामें भी इस कम्मप्रवाद श्रुतरूपी सागरकी एक बूँदके समान बतलाया गया

है। जैसे सप्ततिकाकी अन्तिम गाथा में ग्रन्थकर्ता अपने लाघवको प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'अल्पज्ञ मैंने स्खलित रूप से जो कुछ भी निबद्ध किया है उसे बहुश्रुत के जानकार पूरा करके कथन करें।' वैसे ही शतककी १०५ वीं गाथामें भी इसके कर्ता निर्देश करते हैं कि 'अल्प श्रुतवाले अल्पज्ञ मैंने जो बन्धविधानका सार कहा है उसे बन्ध मोक्ष की विधिमें निपुण जन पूरा करके कथन करें।' दूसरी गाथाके अनुरूप एक गाथा कर्मप्रकृतिमें भी पाई जाती है।

गाथाएँ ये हैं—

> वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥ सप्ततिका।
> कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक।
> जो जत्थ अपडिपुण्णो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
> तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहंतु ॥७२॥ सप्ततिका।
> बंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंदमइणा उ।
> तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥ शतक।

इनमें णिस्संद, अप्पागम, अप्पसुयमंदमइ, पूरेऊण परिकहंतु ये पद ध्यान देने योग्य हैं।

इन दोनों ग्रन्थोंका यह साम्य अनायास नहीं है। ऐसा साम्य उन्हीं ग्रन्थों में देखने को मिलता है जो या तो एक कर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हों। बहुत सम्भव है कि शतक और सप्ततिका इनके कर्ता एक आचार्य हों।

शतककी चूर्णिमें शिवशर्म आचार्यको उसका कर्ता बतलाया है।[1] ये वे ही शिवशर्म प्रतीत होते हैं जो कर्मप्रकृतिके कर्ता माने गये हैं।

---

(१) केण कयं ति, शब्दतर्कन्यायप्रकरणकर्मप्रकृतिसिद्धान्तविजाणएण अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं। पृ० १

इस हिसाबसे विचार करने पर कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका ये तीनों ग्रन्थ एक कर्तृक सिद्ध होते हैं।

किन्तु कर्मप्रकृति और सप्ततिकाका मिलान करने पर ये दोनों एक आचार्यकी कृति हैं यह प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंमें विरुद्ध दो मतों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ—सप्ततिकामें अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणमें 'नतरकरण उवसमो वा' यह कहकर अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशमविधि और अन्तरकरण विधिका निषेध किया गया है।

इस परसे निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१—क्या शिवशर्म नामके दो आचार्य हुए हैं एक वे जिन्होंने शतक और सप्ततिकाकी रचना की है और दूसरे वे जिन्होंने कर्मप्रकृतिकी रचना की है?

२—शिवशर्म आचार्यने कर्मप्रकृतिकी रचना की, क्या यह किंवदन्तीमात्र है?

३—शतक और सप्ततिकाकी कुछ गाथाओंमें समानता देखकर एककर्तृक मानना कहाँ तक उचित है?

यह भी सम्भव है कि इनके संकलयिता एक ही आचार्य हों। किन्तु इनका संकलन विभिन्न दो आधारों से किया गया हो। जो कुछ भी हो। तत्काल उक्त आधारसे सप्ततिकाके कर्ता शिवशर्म ही हैं ऐसा निश्चित कहना विचारणीय है।

एक मान्यता यह भी प्रचलित है कि सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हैं। किन्तु इस मतकी पुष्टिमें कोई सबल प्रमाण नहीं पाया जाता। सप्ततिकाकी मूल ताड़पत्रीय प्रतियोंमें निम्नलिखित गाथा पाई जाती है—

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ नियमिआण एगूणा होइ नउईओ॥'

निर्णय हो जाने पर दूसरेका निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। ऊपर हम ग्रन्थकर्ताके विषयमें निर्देश करते समय यह संभावना प्रकट कर आये हैं कि या तो शिवशर्मसूरिने इसकी रचना की है या इससे पहले ही यह लिखा गया था। साधारणतः शिवशर्म सूरिका अस्तित्वकाल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि माना गया है। इस हिसाबसे विचार करनेपर इसका रचनाकाल, विक्रमकी पाँचवी शताब्दी या इससे पूर्ववर्ती काल ठहरता है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें अनेक बार सित्तरीका उल्लेख किया है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका काल विक्रमकी सातवीं शताब्दि निश्चित है, अतः पूर्वोक्त कालको यदि आनुमानिक ही मान लिया जाय तब भी इतना तो निश्चित ही है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दिके पहले इसकी रचना हो गई थी। इसकी पुष्टि दिगम्बर परम्परामें प्रचलित प्राकृत पञ्चसंग्रहसे भी होती है। प्राकृत पञ्चसंग्रहका संकलन विक्रमकी सातवीं शताब्दिके आसपास हो चुका था। इसमें सप्ततिका संकलित है अतः इसकी रचना प्राकृत पंचसंग्रहके रचनाकालसे पहले हो गई थी यह निश्चित होता है।

टीकाएँ—यहाँ अब सप्ततिकाकी टीकाओंके संबंधमें परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम कर्मग्रन्थके पृष्ठ १७१ पर श्वेताम्बरीय कर्म विषयक ग्रन्थोंकी एक सूची छपी है। उसमें सप्ततिकाकी अनेक टीका टिप्पनियोंका उल्लेख है। पाठकोंकी जानकारीके लिये आवश्यक संशोधनके साथ हम उसे यहाँ दे रहे हैं।

---

(१) सयरीए मोहबंधट्ठाणा पंचादओ कया पंच। अनियट्टिणो इहरा एगाइमोहणिज्जा पणए ॥६७॥ आदि। विशेषणवती।

टीका नाम	परिमाण	कर्ता	रचनाकाल
अन्तर्भाष्य गा०	गा० १०	अज्ञात	अज्ञात
भाष्य	गाथा १९१	अभयदेव सूरि	वि ११-१२वीं श
चूर्णि	पत्र १३२	अज्ञात	अज्ञात
चूर्णि	श्लो० २३००	चन्द्रर्षि महत्तर	अनु० ७वीं श०
वृत्ति	,, ३७८०	मलयगिरि सूरि	वि १२-१३वीं श
भाष्यवृत्ति	,, ४१५०	मेरुतुंग सूरि	वि सं १४४९
टिप्पन	,, ५७४	रामदेव	वि १२ वीं श
अवचूरि	देखो नन्य क्रम ग्रन्थकी अव०	गुणरत्न सूरि	वि १५वीं श

इनमेंसे १ अन्तर्भाष्य गाथा, २ चन्द्रर्षि महत्तरकी चूर्णि और ३ मलयगिरि सूरिकी वृत्ति इन तीनका परिचय कराया जाता है।

अन्तर्भाष्य गाथाएँ -सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाएँ कुल दस हैं। ये विविध विषयोंका खुलासा करनेके लिये रची गई हैं। इनकी रचना किसने की इसका निश्चय करना कठिन है। सम्भव है प्रस्तुत सप्ततिकाके संकलयिताने ही इनकी रचना की हो। स्थान स्थान प्रकरण पर कषाय प्राभृतमें भी भाष्यगाथाएँ पाई जाती हैं और उनके रचयिता स्वयं कषाय प्राभृतकार हैं। बहुत सम्भव है इसी पद्धतिका यहाँ भी अनुसरण किया गया

(१) इसका उल्लेख जैन ग्रन्थावलिमें मुद्रित बृहट्टिप्पणिकाके आधारसे दिया है।

(२) इसका परिमाण २३०० श्लोक अधिक ज्ञात होता है। यह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

हो। ये चन्द्रर्षि महत्तरकी चूर्णि और मलयगिरिकी टीका इन दोनोंमें संगृहीत हैं। मलयगिरिकी टीकामें ये हैं स्पष्टतः अन्तर्भाष्य गाथा कह कर संकलित किया गया है। चूर्णिमें प्रारम्भकी सात गाथाओंको तो अन्तर्भाष्य गाथा बतलाया है किन्तु अन्तकी तीन गाथाओंका निर्देश अन्तर्भाष्य गाथारूपसे नहीं किया है। चूर्णिमें इन पर टीका भी लिखी गई है।

चूर्णि—यह मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर डभोइसे प्रकाशित हुई है। जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये हैं इसके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर प्रतीत होते हैं। आचार्य मलयगिरिने इसका खूब उपयोग किया है। वे चूर्णिकारकी स्तुति करते हुए सप्ततिकाके ऊपर लिखी गई अपनी वृत्तिकी प्रशस्तिमें लिखते हैं—

'यैरेषा विषमार्था सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक्।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे॥'

जिन्होंने इस विषम अर्थवाली सप्ततिकाको भले प्रकार स्फुट कर दिया है। निःस्वार्थ भावसे दूसरोंका उपकार करनेवाले उन चूर्णिकारको मैं (मलयगिरि) नमस्कार करता हूँ।

सचमुचमें यह चूर्णी ऐसी ही लिखी गई है। इसमें सप्ततिकाके प्रत्येक पदका अच्छी ही सुन्दरतासे खुलासा किया गया है। खुलासा करते समय अनेक ग्रन्थोंके उद्धरण भी दिये गये हैं। उद्धरण देते समय शतक सत्कर्म कषायप्राभृत और कर्मप्रकृतिसंग्रहणीका इसमें भरपूर

(१) 'एएसिं विवरणं जहा सयगे।' पृ० ४। 'एएसिं भेओ सरूवं परूवणा जहा सयगे।' पृ० ५। इत्यादि। (२) 'सत्तकम्मे भणियं।' पृ० ७। 'अण्णे भणंति—सुहुमं किमलिंदियाणं पि य, तण्णं सत्तकम्मे उवलब्भइ।' पृ० २२। इत्यादि। (३) 'जहा कसायपाहुडे कम्मपगडिसंगहणीए वा तहा वत्तव्वं।' पृ० ६२। (४) 'उव्वट्टणविही जहा कम्मपगडीसंगहणीए उव्वट्टणासंकमे तहा भाणियव्वं।' पृ० ६१। 'विसेसपवंचो जहा कम्मपगडिसंगहणीए।' पृ० ६२। इत्यादि।

उपयोग किया गया है। जैसा कि पहले बतला आये हैं। इसमें ८९ गाथाओं पर टीका लिखी गई है। ७२ गाथाएँ वे ही हैं जिन पर मलयगिरि आचार्यने टीका लिखी है। १० अन्तर्भाष्य गाथाएँ हैं और सात अन्य गाथाएँ हैं। ये सात गाथाएँ हम पहले ग्रन्थकर्ताका निर्णय करते समय उद्धृत कर आये हैं। यद्यपि ग्रन्थके बाहरकी प्रकरणोपयोगी गाथाओंकी टीका करनेकी परिपाटी पुरानी है। धवला आदि टीकाओंमें ऐसी कई उपयोगी गाथाओंकी टीका की गई है। पर वहाँ प्रकरण या अन्य प्रकारसे इसका ज्ञान करा दिया जाता है कि यह मूल गाथा नहीं है। किन्तु इस चूर्णिमें ऐसा समझनेका कोई आधार नहीं है। चूर्णिकार मूल गाथाका व्याख्यान करते समय गाथाके प्रारम्भका कुछ अंश उद्धृत करते हैं। यथा—

उवरयबंधे चउ पण नवंस० त्ति गाहा।

मलयगिरि आचार्यने जिन गाथाओंको मूलका नहीं माना है उनकी टीका करते समय भी चूर्णिकारने उसी पद्धतिका अनुसरण किया है। यथा—

सत्तट्ठ नव० गाहा। सत्तावीस सुहुमे० गाहा। अणियट्टिबायरे थीण० गाहा। एत्तो हणइ० गाहा। इत्यादि।

इससे यह निर्णय करनेमें बड़ी कठिनाई हो जाती है कि सप्ततिकाकी मूल गाथाएँ कौन कौन हैं। मालूम होता है कि 'गाहग्गं सयरीए' यह गाथा इसी कारण रची गई है। इसमें सप्ततिकाका इतिहास सन्निहित है। वर्तमानमें आचार्य मलयगिरिकी टीका ही ऐसी है जिसमें सप्ततिकाकी गाथाओंका परिमाण निश्चित करनेमें सहायता मिलती है। इसीसे हमने गाथा संख्याका निर्णय करते समय आचार्य मलयगिरि की टीका का प्रमुखतासे ध्यान रखा है।

वृत्ति—सप्ततिकाके ऊपर एक वृत्ति आचार्य मलयगिरिने भी लिखी है। वैदिक परम्परामें टीकाकारोंमें जो स्थान वाचस्पतिमिश्रका है। जैन

परम्परामें यही स्थान मलयगिरि सूरिका है। इन्होंने जिन ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखीं हैं उनकी तालिका बहुत बड़ी है। ऐसी एक तालिका आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्न की प्रस्तावना में छपी है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे हम यहाँ दे रहे हैं।

नाम	श्लोकप्रमाण	
१ भगवती सूत्र द्वितीय शतकवृत्ति	३७५०	
२ राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००	मुद्रित
३ जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००	”
४ प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००	”
५ चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	✕
६ नन्दीसूत्रटीका	७७३२	”
७ सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	”
८ व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००	”
९ बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति अपूर्ण	४६००	”
१० आवश्यकवृत्ति	१८०००	”
११ पिण्डनिर्युक्ति टीका	६७००	”
१२ ज्योतिष्करण्ड टीका	५०००	”
१३ धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००	”
१४ कर्मप्रकृति वृत्ति	८०००	”
१५ पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०	”
१६ षडशीतिवृत्ति	२०००	”
१७ सप्ततिकावृत्ति	३७८०	”
१८ बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	”
१९ बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	”
२० मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००	(?)

अलभ्य ग्रन्थ

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका	४ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र टीका
२ ओघनिर्युक्ति टीका	५ धर्मसारप्रकरण टीका
३ विशेषावश्यक टीका	६ देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण टीका

मलयगिरि सूरिकी टीकाओंको देखनेसे मन पर यह छाप लगती है कि वे प्रत्येक विषय का बड़ी ही सरलताके साथ प्रतिपादन करते हैं। जहाँ भी वे नये विषयका संकेत करते हैं वहां उसकी पुष्टिमें प्रमाण अवश्य देते हैं। उदाहरणार्थ मूल सप्ततिकासे यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्रीवेदी जीव मरकर सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न होता है। दिगम्बर परम्परा का यह निर्विवाद मान्यता है। श्वेताम्बर मूल ग्रन्थोंमें भी यह मान्यता इसी प्रकार पाई जाती है। किन्तु श्वेताम्बर टीकाकारोंने इस मतको निर्विवाद नहीं माना है। उनका कहना है कि इस कथनको सप्ततिकामें बहुलताकी अपेक्षा निर्देश किया गया है। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी वृत्तिमें इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। किन्तु इनकी पुष्टिमें तत्काल उन्होंने चूर्णिका सहारा ले लिया है। इसमें सप्ततिका चूर्णिका उपयोग तो किया ही गया है, किंतु इसके अलावा सिद्धहेम, तत्त्वार्थाधिगमकी सिद्धसेनीय टीका, शतकबृहच्चूर्णि, सत्कर्मग्रन्थ, पञ्चसंग्रहमूलटीका, कर्मप्रकृति, आवश्यकचूर्णि, विशेषावश्यकभाष्य, पञ्चसंग्रह और कर्मप्रकृतिचूर्णि इन ग्रन्थोंका भी भरपूर उपयोग किया गया है। इनके अलावा बहुतसे ग्रन्थोंके उल्लेख 'उक्तं च' कहकर दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि मूल विषयको स्पष्ट करनेके लिये यह वृत्ति खूब सजाई गई है। आचार्य मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र और महाराज कुमारपालदेवके समकालीन माने जाते हैं। इनकी टीकाओंके कारण श्वेताम्बर जैन वाङ्मयके प्रसार करने में बड़ी सहायता मिली है। हमें यह प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता होती है कि सप्ततिकाका प्रस्तुत अनुवाद आचार्य मलयगिरिकी इसी वृत्तिके आधारसे लिखा गया है।

३–अन्य सप्ततिकाएँ

पंचसंग्रहकी सप्ततिका—प्रस्तुत सप्ततिकाके सिवा एक सप्ततिका आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर कृत पंचसंग्रहमें ग्रथित है। पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थ है। यह पाँच प्रकरणोंमें विभक्त है। इसके अन्तिम प्रकरणका नाम सप्ततिका है।

एक तो पंचसंग्रहकी सप्ततिकाकी अधिकतर मूल गाथाएँ प्रस्तुत सप्ततिकासे मिलती-जुलती हैं, दूसरे पंचसंग्रह की रचना प्रस्तुत सप्ततिकाके बहुत काल बाद हुई है और तीसरे इसका नाम सप्ततिका होते हुए भी इसमें १५६ गाथाएँ हैं इससे ज्ञात होता है कि पंचसंग्रहकी सप्ततिकाका आधार प्रकृत सप्ततिका ही रहा है।

दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिका—एक अन्य सप्ततिका दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। यद्यपि अबतक इसकी स्वतन्त्र प्रति देखनेमें नहीं आई है तथापि प्राकृत पंचसंग्रहमें इसके अंगरूपसे यह पाई जाती है।

प्राकृत पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्वयुक्त षट् शतक और सप्ततिका इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया गया है। इनमेंसे अन्तके दो प्रकरणों पर भाष्य भी है। आचार्य अमितिगतिका पञ्चसंग्रह इसीके आधारसे लिखा गया है।

---

(१) पंचसंग्रहकी एक प्रति हमें हमारे मित्र पं० हीरालालजी शास्त्रीने भेजी थी जिसके आधारसे यह परिचय लिखा गया है। पंडितजीके इस कार्यके लिये हम उनका सम्पादकीय वक्तव्यमें आभार मानना भूल गये हैं इसलिये यहाँ उनका विशेष रूपसे स्मरण कर लेना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। शतक और सप्ततिकाकी चूर्णि भी [illegible] थी। उनका प्रस्तावनामें बड़ा उपयोग हुआ है।

अमितिगतिका पंचसंग्रह संस्कृतमें होनेके कारण इसे प्राकृत पंचसंग्रह कहते हैं। यह गद्य-पद्य उभयरूप है। इसमें गाथाएँ १३०० से अधिक हैं।

इसके अन्तके दो प्रकरण शतक और सप्ततिका कुछ पाठभेदके साथ श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित शतक और सप्ततिकासे मिलते जुलते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके बाद ये ही दो ग्रन्थ ऐसे मिले हैं जिन्हें दोनों परम्पराओंने स्वीकार किया है। दिगम्बर परम्परामें प्रचलित इन दोनों ग्रन्थोंका स्वयं पंचसंग्रहकारने संग्रह किया है या पंचसंग्रहकारने इन पर केवल भाष्य लिखा है इसका निर्णय करना कठिन है। इसके लिये अधिक अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

दोनों सप्ततिकाओंमें पाठभेद और उसका कारण—प्रस्तुत सप्ततिकामें ७२ और दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें ७१ गाथाएँ हैं। जिनमेंसे ४० से अधिक गाथाएँ एकसी हैं। १४–१५ गाथाओंमें कुछ पाठभेद है। शेष गाथाएँ जुदी जुदी हैं। इसके कारण दो हैं, मान्यता भेद और वर्णन करने की शैली में भेद।

मान्यता भेदके हमें चार उदाहरण मिले हैं। यथा—

१—प्रस्तुत सप्ततिकामें निद्राद्विकका उदय क्षपकश्रेणिमें नहीं होता इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्षपकश्रेणिमें निद्राद्विकका उदय होता है इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं।

२—प्रस्तुत सप्ततिकामें मोहनीयके उदयविकल्प और पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें वे एक प्रकारके ही बतलाये गये हैं।

३—प्रस्तुत सप्ततिकामें नामकर्मके १२ उदयस्थान बतलाये गये हैं। कर्मकाण्डमें भी ये ही १२ उदयस्थान निबद्ध किये गये हैं। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें २० प्रकृतिक उदयस्थान छोड़ दिया गया है।

४—प्रस्तुत सप्ततिकामें आहारक शरीर व आहारक आंगोपांग और वैक्रिय शरीर व वैक्रिय आंगोपांग इन दो युगलोंकी उद्वलना होते समय इनके बन्धन और संघातकी उद्वलना नियमसे होती है इस सिद्धान्तको स्वीकार करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके सत्वस्थान प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें उद्वलना प्रकृतियोंमें आहारक व वैक्रिय शरीरके बन्धन और संघात सम्मिलित नहीं करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके त्रिभंगी प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है।

मान्यता भेदके य चार ऐसे उदाहरण हैं जिनके कारण दोनों सप्ततिकाओंकी अनेक गाथाएँ जुदी जुदी हो गई हैं और अनेक गाथाओंमें पाठभेद भी हो गया है। फिर भी ये मान्यताभेद सम्प्रदायभेद पर आधारित नहीं हैं।

इसी प्रकार कहीं कहीं वर्णन करनेकी शैलीमें भेद होनेसे गाथाओंमें फरक पड़ गया है। यह अन्तर उपशमना प्रकरण और क्षपणाप्रकरणमें देखनेको मिलता है। प्रस्तुत सप्ततिकामें उपशमना और क्षपणाकी खास खास प्रकृतियोंका ही निर्देश किया गया है। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्रमानुसार उपशमना और क्षपणा सम्बन्धी सब प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश करने की व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों सप्ततिकाओंमें भेद पड़ जाता है तो भी ये दोनों एक उद्गमस्थानसे निकलकर और बीच बीच में दो धाराओं में विभक्त होती हुई अन्त में एकरूप हो जाती हैं।

दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकाकी प्राचीनता—पहले हम अनेक बार प्राकृत पंचसंग्रहका उल्लेख कर आये हैं। इसका सामान्य परिचय भी दे आये हैं। कुछ ही समय हुआ जब यह ग्रन्थ प्रकाशमें आया है। अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे

लिखा गया है। अमितिगतिने इसे विक्रम संम्वत् १०७३ में पूरा किया था। इसमें वही क्रम स्वीकार किया गया है जो प्राकृत पंचसंग्रहमें पाया जाता है। केवल नामकर्मके उदयस्थानोंका विवेचन करते समय प्राकृत पंचसंग्रहके क्रमको छोड़ दिया गया है। प्राकृत पंचसंग्रहमें नाम कर्मका २० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया है। प्रतिज्ञा करते समय इसमें भी २० प्रकृतिक उदयस्थानका निर्देश नहीं किया है। किन्तु उदयस्थानोंका व्याख्यान करते समय इसे स्वीकार कर लिया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्डमें भी पंचसंग्रहका पर्याप्त उपयोग किया गया है। कर्मकाण्डमें ऐसे दो मतोंका उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे लिये गये जान पड़ते हैं। एक मत अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमनावाला है और दूसरे मतका सम्बन्ध कर्मकाण्डमें बतलाये गये नामकर्मके सत्त्वस्थानोंसे है। दिगम्बर परम्परामें ये दोनों मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आये।

यद्यपि कर्मकाण्डमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम होता है इस बातका विधान नहीं किया है तथापि वहाँ उपशम श्रेणिमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंकी भी सत्ता बतलाई है। इससे सिद्ध होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनन्तानुबन्धीके उपशमवाले मतसे भलीभाँति परिचित थे।

दूसरे मतका विधान करते हुए गोम्मटसारके त्रिभंगी प्रकरणमें निम्नलिखित गाथा आई है —

---

(१) 'त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विष । मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥' अ० पंचसं प्र०। (२) देखो अ० पंचसं० पृ० १६८। (३) देखो अ० पंचसं० पृ० १७६। (४) देखो गो० कर्म० गा० ५११।

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य ।
ऊणासि दट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥ ६०६ ॥

यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे ली गई है। वहाँ इसका रूप इस प्रकार है—

तिदुइगिणउदिं णउदिं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च ।
उणसीदिं अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस ■ णव सत्ता ॥ २३ ॥

इन गाथाओंमें नामकर्मके सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं। इन सत्त्व स्थानोंका निर्देश करते समय चालू कार्मिक परम्पराके विरुद्ध एक विशेष सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। चालू कार्मिक परम्परा यह है कि बन्ध और संक्रम प्रकृतियोंमें पाँच बन्धन और पाँच संघात पाँच शरीरोंसे जुदे न गिनाये जाकर भी सत्त्वमें जुदे गिनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ इस क्रमको छोड़कर ये सत्त्वस्थान बतलाये गये ■ ।

प्राचीन ग्रन्थोंमें यह मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्र वर्तीने प्राकृत पंचसंग्रहके आधारसे ही कर्मकाण्डमें इस मत का संग्रह किया है। ये प्रमाण ऐसे हैं जिनसे हम यह जान लेते ■ कि प्राकृत पंचसंग्रहकी रचना गोम्मटसार और अमितगतिके पंचसंग्रहके पहले हो चुकी थी। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह भी ज्ञात होता है कि इसकी रचना धवला टीका और श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित शतककी चूर्णिकी रचना होनेके भी पहले हो चुकी थी।

धवला चौथी पुस्तकके पृष्ठ ३१५ में वीरसेन स्वामीने 'जीवसमासए वि वुत्तं' कह कर 'छप्पंचणवविहाणं' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें १५६ नम्बर पर दर्ज है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत पंचसंग्रहका धवलाके निर्माणकाल के पहले निश्चित हो गया था।

ऐसा ही एक प्रमाण शतक की चूर्णिमें भी मिलता है जिससे जान पड़ता है कि शतक की चूर्णि लिखे जानेके पहले प्राकृत पंचसंग्रह लिखा जा चुका था।

शतक की ९३ वें गाथा की चूर्णिमें दो बार पाठान्तर का उल्लेख किया है। ये पाठान्तर प्राकृत पंचसंग्रहमें निबद्ध दिगम्बर परम्पराके शतकसे लेकर उद्धृत किये गये जान पड़ते हैं।

शतककी ९३ वीं गाथा इस प्रकार है—

'आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोससे जोगे ॥९३॥'

प्राकृत पंचसंग्रहके शतकमें यह गाथा इस प्रकार पाई जाती है—

'आउस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कस्सजोगेण ॥'

इन गाथाओंको देखनेसे दोनोंका मतभेद स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। शतककी चूर्णिमें इसी मतभेद की चर्चा की गई है। वहाँ इस मतभेदका इस प्रकार निर्देश किया है—

"अन्ने पढंति आउक्कोसस्स छ त्ति। अन्ने पढंति मोहस्स णव उ ठाणाणि।"

शतक की चूर्णि कब लिखी गई इसके निर्णयका अब तक कोई निश्चित आधार नहीं मिला है। मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई से प्रकाशित होने वाली चूर्णिसहित सित्तरी की प्रस्तावनामें प० अमृतलालजीने एक प्रमाण अवश्य उपस्थित किया है। यह प्रमाण खंभातमें स्थित श्री शान्तिनाथजी की ताडपत्रीय भंडारकी एक प्रतिसे लिया गया है। इसमें शतककी चूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्र महत्तर श्वेताम्बराचार्यको बतलाया

(1) इतिश्राचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य शतकस्य। प्रशतचू दि ६ शनौ लिखितेति ॥ ६ ॥

है। ये चन्द्र महत्तर कौन हैं, इसका निर्णय करना तो कठिन है। कदा-चित् ये पंचसंग्रहके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हो सकते हैं। यदि पंचसंग्रह और शतककी चूर्णिके कर्ता एक ही व्यक्ति हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दिगम्बर परम्पराके पंचसंग्रहका संकलन चन्द्रर्षिमहत्तर के पंचसंग्रहके पहले हो गया था।

इस प्रकार प्राकृत पंचसंग्रह की प्राचीनता के अवगत हो जाने पर इसमें निबद्ध सप्ततिकाकी प्राचीनता तो सुतरां सिद्ध हो जाती है।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री का 'प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह तथा उनका आधार' शीर्षक एक लेख छपा है। उसमें उन्होंने प्राकृत पंचसंग्रह की सप्ततिकाका आधार प्रस्तुत सप्ततिकाको बतलाया है। किन्तु जबतक इसकी पुष्टि में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता तब तक ऐसा निष्कर्ष निकालना कठिन है। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसी एक को देखकर दूसरी सप्ततिका लिखी गई है।

४—विषय परिचय

सप्ततिकाका विषय संक्षेप में इसकी प्रथम गाथामें दिया है। इसमें आठों मूल कर्मों व अवान्तर भेदों के बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्व-स्थानोंका स्वतन्त्र रूपसे व जीवसमास और गुणस्थानोंके आश्रयसे विवेचन करके अन्तमें उपशम विधि और क्षपणा विधि बतलाई गई है। कर्मोंकी यथासम्भव दस अवस्थाएँ होती हैं। इनमेंसे तीन मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्त्व। शेष अवस्थाओंका इन तीनमें अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि कर्मोंकी विविध अवस्थाओं और उनके भेदोंका इसमें सांगोपांग विवेचन किया गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। सप्ततिकामें ग्रन्थका जितना परिमाण है उसे देखते हुए वर्णन करनेकी शैलीकी प्रशंसा करनी [illegible] है। सागर का जल गागरमें

भर दिया गया है। इतने लघुकाय ग्रन्थमें इतने विशाल और गहन विषयका विवेचन कर देना हर किसीका काम नहीं है। इससे ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थ दोनोंकी ही महानता सिद्ध होती है। इसकी प्रथम और दूसरी गाथामें विषयकी सूचना की गई है। तीसरी गाथामें आठ मूल कर्मोंके संवेध भंग बतलाकर चौथी और पाँचवीं गाथामें क्रमसे इनका जीवसमास और गुणस्थानोंमें विवेचन किया गया है। छठी गाथामें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके अवान्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये हैं। सातवींसे लेकर नौवीके पूर्वार्धतक कई गाथामें दर्शनावरणके उत्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये हैं। नौवीं गाथाके उत्तरार्धमें वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके संवेध भंगोंके कहनेकी सूचना मात्र करके मोहनीयके कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। दसवींसे लेकर तईसवीं गाथातक १४ गाथाओं द्वारा मोहनीयके और २४वीं गाथासे लेकर ३२वीं गाथातक ९ गाथाओं द्वारा नामकर्मके बन्धादि स्थानों व संवेध भंगोंका विचार किया गया है। आगे ३३वीं गाथासे लेकर ५२वीं गाथातक २० गाथाओं द्वारा अवान्तर प्रकृतियोंके इन संवेध भंगोंको जीवसमासों और गुणस्थानोंमें घटित करके बतलाया गया है। ५३वीं गाथामें गति आदि मार्गणाओंके साथ सत् आदि आठ अनुयोग द्वारोंमें इन्हें घटित करनेकी सूचना की है। इसके आगे प्रकरण बदल जाता है। ५४वीं गाथामें उदयसे उदीरणाके स्वामीमें कितनी विशेषता है इसका निर्देश करके ५५वीं गाथामें वे ४१ प्रकृतियाँ बतलाई हैं जिनमें विशेषता है। ५६वीं से लेकर ५९वीं तक ४ गाथाओं द्वारा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है यह बतलाया गया है। ६०वीं प्रतिज्ञा गाथा है। इसमें गति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्वामित्वके जान लेनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ६१वीं गाथामें यह बतलाया है कि तीर्थंकर प्रकृति, देवायु और नरकायु इनका सत्त्व तीन तीन गतियोंमें ही होता है। किन्तु इनके सिवा शेष प्रकृतियोंका सत्त्व सब गतियोंमें पाया जाता है। ६२वीं और ६३वीं

गाथा द्वारा चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शन मोहनीय इनके उपशमना और क्षपणाके स्वामीका निर्देश करके ६४वीं गाथा द्वारा क्रोधादि चार की क्षपणाके विशेष नियमकी सूचना की गई है। अयोगीके द्विचरम समयमें किन प्रकृतियोंका क्षय होता है यह ६५वीं गाथामें बतलाया गया है। अयोगी जिन कितनी प्रकृतियोंका वेदन करते हैं यह ६६वीं गाथामें बतलाया गया है। ६७वीं गाथामें नामकर्मकी व ९ प्रकृतियाँ गिनाई हैं जिनका उदय अयोगीके होता है। अयोगीके अन्तिम समयमें कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है यह ६८वीं गाथा बतलाती है। ६९वीं गाथामें अयोगीके अन्तिम समयमें जिन प्रकृतियोंका क्षय होता है उनका निर्देश किया है। आगे ७०वीं गाथामें सिद्धों के सिद्ध सुखका निर्देश करके उपसंहार स्वरूप ७१वीं गाथा आई है। और ७२वीं गाथामें लघुता प्रकट करके ग्रन्थ समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय है। अब आगे प्रकृतोपयोगी समझ कर कर्म तत्त्वका संक्षेपमें विचार करते हैं।

५. कर्म-मीमांसा

कर्मके विषयमें तुलनात्मक ढंगसे या स्वतन्त्र भावसे अनेक लेखकोंने बहुत कुछ लिखा है। तथापि जैन दर्शनमें कर्मको जिस रूपमें स्वीकार किया है वह दृष्टिकोण सर्वथा लुप्त होता आ रहा है। जैन कर्मवादमें ईश्वरवादकी छाया आती जा रही है। यह भूल वर्तमान लेखक ही कर रहे हैं ऐसी बात नहीं है पिछले लेखकोंसे भी ऐसी भूल हुई है। इसी दोषका परिमार्जन करनेके लिये स्वतंत्र भावसे इस विषय पर लिखना जरूरी समझकर यहाँ संक्षेपमें इस विषयकी मीमांसा की जा रही है।

छह द्रव्योंका स्वरूप निर्देश—भारतीय सब आस्तिक दर्शनोंने जीवके अस्तित्वको स्वीकार किया है जैनदर्शनमें इसकी चर्चा विशेष रूपसे की गई है। समय प्राभृतमें जीवके स्वरूपका निर्देश करते हुए

इसे[1] रस रहित, गन्धरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित, अव्यक्त और चेतना गुणवाला बतलाया है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रमें जीवको उपयोग लक्षणवाला लिखा है पर इससे उक्त कथनका ही समर्थन होता है। ज्ञान और दर्शन ये चेतनाके भेद हैं। उपयोग शब्दसे इन्हींका बोध होता है।

ज्ञान और दर्शन यह जीवका निज स्वरूप है जो सदा काल अवस्थित रहता है। जीवमात्रमें यह सदा पाया जाता है। इसका कभी भी अभाव नहीं होता। जो तिर्यंच योनिमें भी निकृष्टतम योनिमें विद्यमान हैं उनके भी यह पाया जाता है और जो परम उपास्य देवत्वको प्राप्त हैं उनके भी यह पाया जाता है। यह सबके पाया जाता है। ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसके यह नहीं पाया जाता है।

जीवके सिवा ऐसे बहुतसे पदार्थ हैं जिनमें ज्ञान दर्शन नहीं पाया जाता। वैज्ञानिकोंने उन जड़ पदार्थोंकी संख्या कितनी ही क्यों न बतलाई हो पर जैनदर्शनमें वर्गीकरण करके ऐसे पदार्थ पाँच बतलाये गये हैं जो ज्ञानदर्शनसे रहित हैं। वैज्ञानिकोंके द्वारा बतलाये गये सब जड़ तत्त्वोंका समावेश इन पाँच तत्त्वोंमें हो जाता है। वे पाँच तत्त्व ये हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव तत्त्वके मिला देने पर कुल छह तत्त्व होते हैं। जैन दर्शन इन्हें द्रव्य शब्दसे पुकारता है।

जीव द्रव्यका स्वरूप पहले बतलाया ही है। शेष द्रव्योंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पाया जाता है उसे पुद्गल[3] कहते हैं। जैन दर्शनमें स्पर्शादिककी मूर्त संज्ञा है इसलिये यह मूर्त

---

(१) 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।'—समयप्राभृत गाथा ४९।

(२) 'उपयोगो लक्षणम्।'

(३) 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।'—त० सू० ५-२३।

माना गया है। किन्तु शेष द्रव्योंमें ये स्पर्शादिक नहीं पाये जाते इसलिये वे अमूर्त हैं। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता प्रदान करता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। अधर्म द्रव्यका स्वरूप इससे उल्टा है। यह ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता प्रदान करता है। इन दोनों द्रव्योंके स्वरूपका स्पष्टीकरण करनेके लिये जल और छायाका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मछलीके गमन करनेमें जल और पथिकके ठहरनेमें छाया सहायता प्रदान करते हैं ठीक यही स्वभाव क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका है। जो वस्तुकी पुरानी अवस्थाके व्यय और नूतन अवस्थाके उत्पादमें सहायता प्रदान करता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। और प्रत्येक पदार्थके ठहरनेके लिये जो अवकाश प्रदान करता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अविकारी माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभावमें कभी भी विपरिणाम नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल ये ऐसे द्रव्य हैं जो अविकारी और विकारी दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभावमें अविकारी होते हैं। इस हिसाबसे जीव और पुद्गलके दो दो भेद हो जाते हैं। संसारी और मुक्त ये जीवके दो भेद हैं। तथा अणु और स्कन्ध ये पुद्गलके दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्थामें अविकारी हैं और संसारी अवस्थामें विकारी। पुद्गल अणु अवस्थामें अविकारी हैं और स्कन्ध अवस्थामें विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब तक उस संश्लेषके कारण उनके स्वभावमें विपरिणति हुआ करती है इसलिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्लेषके हटते ही वे अविकारी हो जाते हैं।

---

(१) द्रव्य० गा० १८। (२) द्रव्य० गा० १९। (३) द्रव्य० गा० २०। (४) द्रव्य० गा० २२।

बन्धकी योग्यता—इन दोनोंका अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट होना इनकी योग्यता पर निर्भर है। यह योग्यता जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है अन्य में नहीं। ऐसी योग्यताका निर्देश करते हुए जीवमें उसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप तथा पुद्गलमें उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप बतलाया है। जीव मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है और पुद्गल स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

जीवमें मिथ्यात्वादि रूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है इसलिये उसे अनादि माना है। किन्तु पुद्गलमें स्निग्ध या रूक्षगुणरूप योग्यता संश्लेषके बिना भी पाई जाती है इसलिये वह अनादि और सादि दोनों प्रकारकी मानी गई है।

इससे जीव और पुद्गल केवल इन दोनोंका बन्ध सिद्ध होता है। क्योंकि संश्लेष बन्धका पर्यायवाची है। किन्तु प्रकृतमें जीवका बन्ध विवक्षित है इसलिये आगे उसीकी चर्चा करते हैं—

जीवबन्धविचार—यों तो जीवकी बद्ध और मुक्त अवस्था सभी आस्तिक दर्शनोंने स्वीकार की है। बहुतसे दर्शनोंका प्रयोजन ही निःश्रेयस प्राप्ति है। किन्तु जैन दर्शनने बन्ध मोक्षकी जितनी अधिक चर्चा की है उतनी अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती। जैन आगमका बहुभाग इसकी चर्चासे भरा पड़ा है। यहाँ जीव क्यों और कबसे बँधा है, बद्ध जीवकी कैसी अवस्था होती है। बँधनेवाला दूसरा पदार्थ क्या है जिसके साथ जीवका बन्ध होता है, बन्धसे इस जीवका छुटकारा कैसे होता है, बन्धके कितने भेद हैं, बँधनेके बाद उस दूसरे पदार्थका जीवके साथ कब तक सम्बन्ध बना रहता है, बँधनेवाले दूसरे पदार्थके सम्पर्कसे जीवकी विविध अवस्थाएँ कैसे होती हैं, बँधनेवाला दूसरा

(१) त० सू० ८-१। (२) 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।'—त० सू० ५-३३।

पदार्थ क्या जिस रूपमें बँधता है उसी रूपमें बना रहता है या परिस्थितिवश उसमें न्यूनाधिक परिवर्तन भी होता है आदि सभी प्रश्नोंका विस्तृत समाधान किया गया है। आगे हम उक्त प्रश्नों के आधारसे इस विषयकी चर्चा कर लेना इष्ट समझते हैं।

संसारकी अनादिता—जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि जीवके संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। जो चतुर्गति योनियोंमें परिभ्रमण करता है उसे संसारी कहते हैं इसका दूसरा नाम बद्ध भी है। और जो संसारसे मुक्त हो गया है उसे मुक्त कहते हैं। ये दोनों भेद अवस्थाकृत होते हैं। पहले जीव संसारी होता है और जब वह प्रयत्न पूर्वक संसारका अन्त कर देता है तब वही मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेके बाद जीव पुन संसारमें नहीं आता। उस समय उसमें ऐसी योग्यता ही नहीं रहती जिससे वह पुन कर्मबन्धको प्राप्त कर सके। कर्मबन्धका मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। जब तक इनका सद्भाव पाया जाता है तभी तक कर्मबन्ध होता है। इनका अभाव होने पर जीव मुक्त हो जाता है। इससे कर्मबन्धके मुख्य कारण मिथ्यात्व आदि हैं यह ज्ञात होता है। ये मिथ्यात्व आदि जीवके वे परिणाम हैं जो बद्धदशामें होते हैं। अबद्ध जीवके इनका सद्भाव नहीं पाया जाता। इससे कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदिका कार्यकारण भाव सिद्ध होता है। बद्ध जीवके कर्मोंका निमित्त पाकर मिथ्यात्व आदि होते हैं और मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है यह कार्यकारण भावकी परम्परा है। इसी भावको स्पष्ट करते हुए समयप्राभृत में लिखा है—

> 'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥८६॥

---

(१) 'संसारिणो मुक्ताश्च।'—त० सू० २-१०।

'जीवके मिथ्यात्व आदि परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।'

कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदि की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। आगम में इसके लिये बीज और वृक्षका दृष्टान्त दिया गया है। इस परम्पराका अन्त किया जा सकता है पर प्रारम्भ नहीं। इसीसे व्यक्तिकी अपेक्षा मुक्तिको सादि और संसारको अनादि माना है।

संसारका मुख्य कारण कर्म है—संसार और मुक्त ये जीवकी दो दशाएँ हैं यह हम पहले ही बतला आये हैं। यों तो इन दोनों अवस्थाओंका कर्ता स्वयं जीव है। जीव ही स्वयं संसारी होता है और जीव ही मुक्त। राग द्वेष आदिरूप अशुद्ध और केवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाएँ होती हैं वे सब जीवकी ही होती हैं, क्योंकि जीवके सिवा ये अन्य द्रव्यमें नहीं पाई जातीं। तथापि इनमें जो शुद्धता और अशुद्धताका भेद किया जाता है वह निमित्त की अपेक्षासे ही किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके माने गये हैं। एक वे जो साधारण कारणरूपसे स्वीकार किये गये हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंका सद्भाव इसी रूपसे स्वीकार किया गया है। और दूसरे वे जो प्रत्येक कार्यके अलग-अलग होते हैं। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्तिमें कुम्हार निमित्त है और जीवकी अशुद्धताका निमित्त कर्म है आदि। जब तक जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध है तभी तक ये राग, द्वेष और मोह आदि भाव होते हैं कर्मके अभावमें नहीं। इसीसे संसारका मुख्य कारण कर्म कहा गया है। घर, पुत्र, स्त्री, धन आदिका नाम संसार नहीं है। वह तो जीवकी अशुद्धता है जो कर्मके सद्भाव में ही पाई जाती है इसलिये संसार और कर्मका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। जबतक यह सम्बन्ध बना रहता

है तबतक यह चक्र यों ही घूमा करता है। इसी बातको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकायमें लिखा है—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।

जो जीव संसारमें स्थित है उसके राग द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। इससे शरीर होता है। शरीरके प्राप्त होनेसे इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। विषय ग्रहणसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। जो जीव संसार चक्रमें पड़ा है उसकी ऐसी अवस्था होती है।

इस प्रकार संसारका मुख्य कारण कर्म है यह ज्ञात होता है।

कर्मका स्वरूप—कर्मका मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकारकी होती है। हँसना, खेलना, कूदना, उठना, बैठना, रोना, गाना, जाना, आना आदि ये सब क्रियाएँ हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनोंमें पाई जाती है। कर्मका सम्बन्ध आत्मासे है अतः केवल जड़की क्रिया यहाँ विवक्षित नहीं है। और शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा आकाशके समान निर्लेप और भित्तीमें उकीरे गये चित्रके समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शनमें जड़ चेतन सभी पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है। यह स्वभाव क्या शुद्ध और क्या अशुद्ध सब पदार्थोंका पाया जाता है। किन्तु यहाँ क्रियाका अर्थ परिस्पन्द लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थोंकी नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीवके ही पाई जाती है। इसलिये प्रकृतमें

कर्मका अर्थ संसारी जीवकी क्रिया लिया गया है। आशय यह है कि संसारी जीवके प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाता है।

यद्यपि कर्मका मुख्य अर्थ यही है तथापि इसके निमित्तसे जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादि,भावको प्राप्त होते हैं वे भी कर्म कहलाते हैं। अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारकी टीकामें इसी भावको दिखलाते हुए लिखा है—

'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म तन्निमित्तप्राप्तपरिणाम पुद्गलोऽपि कर्म।' पृ० १६५।

जैनदर्शनमें कर्मके मुख्यतया दो भेद किये गये हैं द्रव्यकर्म और भावकर्म। ये भेद जातिकी अपेक्षासे नहीं किये जाकर कार्यकारणभावकी अपेक्षासे किये गये हैं। सदाकालसे जीव बद्ध और अशुद्ध इन्हींके कारण हो रहा है। जो पुद्गल परमाणु आत्मासे सम्बद्ध होकर ज्ञानादि भावोंका घात करते हैं और आत्मामें ऐसी योग्यता लानेमें निमित्त होते हैं जिनसे वह विविध शरीर आदिको धारण कर सके वे द्रव्यकर्म कहते हैं। तथा आत्माके जिन भावोंसे इन द्रव्य कर्मोंका उससे सम्बन्ध होता है वे भावकर्म कहलाते हैं। द्रव्यकर्मका चर्चा करते हुए अकलंक देवने राजवार्तिकमें लिखा है—

'यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः।

जैसे पात्र विशेषमें डाले गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मामें स्थित पुद्गलोंका भी योग तथा कषायके कारण कर्मरूपसे परिणमन होता है।'

योग और कषायके बिना पुद्गल परमाणु कर्मभावको नहीं प्राप्त

होते इसलिये योग और कषाय तथा कर्मभावको प्राप्त हुए पुद्गल परमाणु ये दोनों कर्म कहलाते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

कर्मबन्धके हेतु—यह हम पहले ही बतला आये हैं कि आत्मा मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धा या तत्त्वरुचिका अभाव) अविरति (त्यागरूप परिणतिका अभाव) प्रमाद (अनवधानता) कषाय (क्रोधादिभाव) और योग (मन वचन और कायका व्यापार) के कारण अन्य पुद्गल बन्धको प्राप्त होता है। पर इनमें बन्धमात्रके प्रति योग और कषायकी प्रधानता है। आगे बन्धके चार भेद बतलानेवाले हैं उनमेंसे प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होता है तथा स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषायसे होता है। आगममें योगको गरम लोहेकी और कषायको गोंदकी उपमा दी गई है। जिस प्रकार गरम लोहेको पानीमें डालने पर वह चारों ओरसे पानीको खींचता है ठीक यही स्वभाव योगका है और जिस प्रकार गोंदके कारण एक कागज दूसरे कागजसे चिपक जाता है ठीक यही स्वभाव कषायका है। योगके कारण कर्म परमाणुओं का आस्रव होता है और कषायके कारण वे बँध जाते हैं। इसलिए कर्मबन्धके मुख्य कारण पाँच होते हुए भी उनमें योग और कषायकी प्रधानता है। प्रकृति आदि चारों प्रकारके बन्धके लिये [illegible] दो का सद्भाव अनिवार्य है।

अब कर्मके अवान्तर भेदोंमें कितने कर्म किस हेतुसे बँधते हैं इत्यादि रूपसे कर्मबन्धके सामान्य हेतुओंका वर्गीकरण किया जाता है तब वे पाँच प्राप्त होते हैं और जब प्रकृति आदि चार प्रकारके बन्धोंमें

---

(१) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।

—त० सू० ८-१।

ठिदिअणुभागो कसायदो होदि।'

—द्रव्य० गा०...

कौन बन्ध किस हेतुसे होता है इसका विचार किया जाता है तब ये दो प्राप्त होते हैं।

ये कर्मबन्धके सामान्य कारण हैं विशेष कारण जुदे-जुदे हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें विशेष कारणोंका निर्देश आस्रवके प्रकरणमें किया गया है।

कर्मके भेद—जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियाँ मानता है। जीव भी एक द्रव्य है अतः उसमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। जब यह संसार दशामें रहता है तब उसकी वे शक्तियाँ कर्मसे आवृत रहती हैं। फलतः कर्मके अनन्त भेद हो जाते हैं। किन्तु जीवकी मुख्य शक्तियोंकी अपेक्षा कर्मके आठ भेद किये गये हैं। यथा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरण—जीवकी ज्ञान-शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी ज्ञानावरण संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

दर्शनावरण—जीवकी दर्शन शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी दर्शनावरण संज्ञा है। इसके नौ भेद हैं।

वेदनीय—सुख और दुःखका वेदन करानेवाले कर्मकी वेदनीय संज्ञा है। इसके दो भेद हैं।

मोहनीय—राग द्वेष और मोहको पैदा करनेवाले कर्मकी मोहनीय संज्ञा है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं। दर्शनमोहनीयके तीन और चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेद हैं।

आयु—नरकादि गतियोंमें अवस्थानके कारणभूत कर्मकी आयु-संज्ञा है। इसके चार भेद हैं।

नाम—नाना प्रकारके शरीर, वचन और मन तथा जीवकी विविध अवस्थाओंके कारणभूत कर्मकी नाम संज्ञा है। इसके तेरानबे भेद हैं।

गोत्र—नीच उच्च सन्तान (परम्परा) के कारणभूत कर्मकी गोत्र संज्ञा है। इसके दो भेद हैं। जैनधर्म जाति या आजीविका कृत नीच उच्च भेदम

नामका कुल गुरुकृत मानता है। परन्तु आचारवालोंकी परम्परामें जो जन्म लेते हैं या जो ऐसे लोगोंकी संगति करते हैं या जो मानवोचित आचारको जीवनमें उतारते हैं वे उच्चगोत्री माने गये हैं और जिनकी स्थिति इनके विरुद्ध है वे नीचगोत्री माने गये हैं। नीचगोत्री बुरे आचारका त्याग करके इसी पर्यायमें उच्चगोत्री हो सकता है। जैन धर्मके अनुसार ऐसे जीवको श्रावक और मुनि होनेका पूरा अधिकार है।

अन्तराय—जीवके दानादि भाव प्रकट न होने के निमित्तभूत कर्म की अन्तराय संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

ये सब कर्म मुख्यतः चार भागोंमें बटे हुए हैं जीवविपाकी पुद्गलविपाकी क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी। जिनका विपाक जीवमें होता है वे जीवविपाकी हैं। जिनका विपाक जीवसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धको प्राप्त हुए पुद्गलोंमें होता है वे पुद्गलविपाकी हैं। जिनका विपाक भवमें होता है वे भवविपाकी हैं और जिनका विपाक क्षेत्र विशेषमें होता है वे क्षेत्र विपाकी हैं।

ये सब कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारके हैं। ये भेद अनुभाग बन्धकी अपेक्षासे किये गये हैं। दान, पूजा, मन्दकषाय, साधुसेवा आदि शुभ परिणामोंसे जिन कर्मोंको उत्कृष्ट अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्यकर्म हैं। और मदिरापान, मांससेवन, परस्त्री गमन शिकार करना, जुआ खेलना, [illegible] करना बुरे भाव रखना, हरी दगाबाजी करना आदि [illegible]णामोंसे [illegible] उत्कट अनुभाग प्राप्त होता है वे पाप[illegible]

अनुभाग फलदानशक्ति

पुण्यरूप अनुभाग शक्ति के चार भेद हैं और, निम्ब, कञ्जीर विष और हलाहल ये पापरूप अनुभागशक्तिके चार भेद हैं। जिसका जैसा नाम है वैसा उसका फल है।

जीवके गुण (शक्ति) दो भागोंमें बटे हुए हैं अनुजीवीगुण और प्रतिजीवी गुण। जिन गुणोंका सद्भाव केवल जीव में पाया जाता है वे अनुजीवी गुण हैं और जिनका सद्भाव जीवमें पाया जाकर भी जीवके सिवा अन्य द्रव्योंमें भी यथायोग्य पाया जाता है वे प्रतिजीवी गुण हैं। इन गुणोंके कारण ही कर्मोंके घाति और अघाति ये भेद किये गये हैं। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व चारित्र वीर्य, लाभ, दान भोग, उपभोग और सुख ये अनुजीवी गुण हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये कर्म इन गुणोंका घात करनेवाले होनेसे घातिकर्म हैं और शेष अघाति कर्म हैं।

कर्मकी विविध अवस्थाएं —जीवकी प्रति समय जो अवस्था होती है उसका चित्र कर्म है। यद्यपि जीवकी वह अवस्था उसी समय नष्ट हो जाती है अन्य समयमें अन्य होती है पर संस्काररूपसे वह कर्ममें अंकित रहती है। प्रति समयके कर्म जुदे जुदे हैं। और जब तक वे फल नहीं दे लेते नष्ट नहीं होते। बिना भोगे कर्मका क्षय नहीं।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म।'

कर्मका भोग विविध प्रकारसे होता है। कभी जैसा कर्मका संचय किया है उसी रूपमें उसे भोगना पड़ता है। कभी न्यून, अधिक या विपरीतरूपसे उसे भोगना पड़ता है। कभी दो कर्म मिलकर एक काम करते हैं। साता और असाता इनके काम जुदे जुदे हैं पर कभी ये दोनों मिलकर सुख या दुख किसी एकको जन्म देते हैं। कभी एक कर्म विभक्त होकर विभागानुसार काम करता है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्वका मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूपसे विभाग हो जानेपर

इनके साथ भी जुदे जुदे हो जाते हैं। कभी नियत कालके पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत कालसे बहुत समयबाद उसका फल देखा जाता है। जिस कर्मका जैसा नाम, स्थिति और फलदान शक्ति है उसीके अनुसार उसका फल मिलता है यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक हैं। कुछ कर्म ऐसे अवश्य हैं जिनकी प्रकृति नहीं बदलती। उदाहरणार्थ चार आयुकर्म। आयु कर्मोंमें जिस आयुका बन्ध होता है उसीरूपमें उसे भोगना पड़ता है। उसके स्थिति अनुभागमें उलट फेर भले ही हो जाय पर भोग उनका अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ही होता है। यह कभी सम्भव नहीं कि नरकायुको तिर्यं-चायुरूपसे भोगा जा सके या तिर्यंचायुको नरकायुरूपसे भोगा जा सके। शेष कर्मोंके विषयमें ऐसा कोई नियम नहीं है। मोटा नियम इतना अवश्य है कि मूल कर्ममें बदल नहीं होता। इस नियमके अनुसार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये मूल कर्म मान लिये गये हैं। कर्मकी ये विविध अवस्थाएँ हैं जो बन्ध समयसे लेकर उनकी निर्जरा होने तक यथासम्भव होती हैं। इनके नाम ये हैं—

बन्ध, सत्त्व उत्कर्षण अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उप-शामना, निधत्ति और निकाचना।

बन्ध—कर्मवर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। जिस कर्मका जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत करना है। स्थिति कालमर्यादाको कहते हैं। किस कर्मकी जघन्य और उत्कृष्ट कितनी स्थिति पड़ती है इस सम्बन्धमें अलग अलग नियम हैं। अनुभाग फलदान शक्तिको कहते हैं। प्रत्येक कर्ममें न्यूना-धिक फल देनेकी योग्यता होती है। प्रति समय बंधनेवाले कर्मके परमाणुओं की परिगणना प्रदेशबन्धमें की जाती है।

सत्त्व—बंधनेके बाद कर्म आत्मासे सम्बद्ध रहता है। तत्काल

तो वह अपना काम करता ही नहीं। किन्तु जब तक वह अपना काम नहीं करता है तब तक उसकी वह अवस्था सत्ता नामसे अभिहित होती है। अपकर्षण आदिके निमित्तसे होनेवाले अपवादको छोडकर साधारणत प्रत्येक कर्मका नियम है कि वह बंधनेके बाद कबसे काम करने लगता है। बीचमें जितने काल तक काम नहीं करता है उसकी आबाधाकाल संज्ञा है। आबाधाकालके बाद प्रति समय एक एक निषेक काम करता है। यह क्रम विवक्षित कर्मके पूरे होने तक चालू रहता है। आगममें प्रथम निषेककी आबाधा दी गई है। शेष निषेकोंकी आबाधा क्रमसे एक एक समय बढ़ती जाती है। इस हिसाबसे अन्तिम निषेककी आबाधा एक समय कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। आयुकर्मके प्रथम निषेककी आबाधाका क्रम जुदा है। शेष क्रम समान है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभागके बढ़ानेकी उत्कर्षण संज्ञा है। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। अर्थात् जिस कर्मका स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है उसका पुन बन्ध होने पर पिछले बंधे हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति अनुभाग बढ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोडकर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। इतनी विशेषता है कि शुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मों का स्थिति और अनुभाग कम होता है। तथा अशुभ परिणामोंसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृतिके परमाणुओंका सजातीय दूसरी प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है यथा असाताके परमाणुओंका सातारूप हो जाना। मूल कर्मोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता। यथा ज्ञानावरण दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्मके अवान्तर भेदोंका परस्पर

निमित्त कारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्कार रूपमें आत्मासे सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणतिके पैदा करनेमें सहायता प्रदान करते हैं। जीवकी अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तोंके सद्भाव और असद्भाव पर आधारित है। जब तक इन निमित्तोंका एक क्षेत्रावगाह सश्लेषरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है और इनका सम्बन्ध छूटते ही जीव शुद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है। जैन दर्शनमें इन्हीं निमित्तोंको कर्म शब्दसे पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्माकी परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्रीके मिलने पर राग होता है। जुगुप्साकी सामग्री मिलने पर ग्लानि होती है। धन सम्पत्तिको देखकर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेनेकी भावना होती है। ठोकर लगने पर दुख होता है और और माला का संयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्माकी विविध परिणतिके होनेमें निमित्त नहीं हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्रीको मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करने पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्तरङ्ग में वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके रागभाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरङ्गमें योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा हा कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी योग्यताका सूचक है पर [illegible] वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। [illegible] बाह्य [illegible]
मिलती और [illegible]

देखा जाता है। किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। इसका सबंध तभी तक आत्मासे रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अत कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। फिर भी अन्तरंगमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलने पर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इसलिये निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है इसलिये इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।

इतने विवेचनसे कर्मकी कार्य मर्यादाका पता लग जाता है। कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्मकी कार्यमर्यादा यद्यपि उक्त प्रकारकी है तथापि अधिकतर विद्वानों का विचार है कि बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति भी कर्मसे होती है। इन विचारों की पुष्टिमें वे मोक्षमार्ग प्रकाशके निम्न उल्लेखों को उपस्थित करते हैं—'तहाँ वेदनीय करि तो शरीर विषै वा शरीर तैं बाह्य नाना प्रकार सुख दुःखनिको कारण पर द्रव्य का सयोग जुरै है।' पृ० ३५

उसीसे दूसरा प्रमाण वे यों देते हैं—

'बहुरि कर्मनि विषै वेदनीयके उदयकरि शरीर विषै बाह्य सुख दुःख का कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनो रोगीपनो शक्तिवानपनो दुर्बलपनो अर क्षुधा तृषा रोग खेद पीड़ा इत्यादि सुख दुःखनिके कारण हो हैं। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक सुख दुःखके कारक हो हैं।' पृ० ५६।

इन विचारोंकी परम्परा यहीं तक नहीं जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुतसे लेखकोंने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणोंमें पुण्य और पापकी महिमा इसी आधारसे गाई गई है। अमितिगतिके सुभाषित रत्न स देहमें दैवनिरूपण नामका एक अधिकार है। उसमें भी

ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है। यथा—

जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति। २

किन्तु विचार करने पर उक्त कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्मके दो भेद हैं जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। जो जीवकी विविध अवस्था और परिणामोंके होनेमें निमित्त होते हैं वे जीवविपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकारके शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास की प्राप्ति होती है वे पुद्गलविपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मों में ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्रीका प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी हैं। राजवार्तिकमें इनके कार्यका निर्देश करते हुए लिखा है—

'यदुदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्।' पृष्ठ ३०४।

इन वार्तिकोंकी व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—

'अनेक प्रकारकी देवादि गतियोंमें जिस कर्मके उदयसे जीवोंके प्राप्त हुए द्रव्यके सम्बन्धकी अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकारका सुखरूप परिणाम होता है वह साता वेदनीय है। तथा नाना प्रकारकी नरकादि गतियोंमें जिस कर्मके फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, व्याधि वध और बन्धनादिसे उत्पन्न हुआ विविध प्रकारका मानसिक और कायिक दुःसह दुःख होता है वह असाता वेदनीय है।'

सर्वार्थसिद्धिमें जो साता वेदनीय और असाता वेदनीयके स्वरूपका निर्देश किया है। उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर कार्मिक ग्रन्थोंमें भी इन कर्मोंका यही अर्थ किया है। ऐसी हालतमें इन कर्मोंको अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्रीके संयोग वियोगमें निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तवमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति अपने अपने कारणोंसे होती है। इसकी प्राप्तिका कारण कोई कर्म नहीं है।

ऊपर मोक्षमार्ग प्रकाशकके जिस मतकी चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं। जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश किया गया है। इनमेंसे पहला मत तो पूर्वोक्त मतसे ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनोंके आधारसे चर्चा कर लेना इष्ट है—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोगद्वारमें प्रकृतियोंका नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीकामें वीरसेन स्वामीने इन कर्मोंकी विस्तृत चर्चा की है। वहाँ सर्वप्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीयका वही स्वरूप दिया है जो सर्वार्थसिद्धि आदिमें बतलाया गया है। किन्तु शंका समाधानके प्रसंगसे उन्होंने सातावेदनीयका जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी उभयरूप सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

इस प्रकरणके वाचनेसे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामीका यह मत था कि सातावेदनीय और असाता वेदनीयका काम सुख दुखका उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्रीको जुटाना दोनों है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश करते हुए लाभादिको उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धोंमें अतिप्रसंग देने पर लाभादिके साथ शरीर नामकर्म आदिकी अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका क्या कारण है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान भी इनके आधारसे दोनों प्रकारके उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीयको बाह्य

सामग्रीकी प्राप्तिका निमित्त बतलाते हैं और कोई लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमको। इन विद्वानोंके ये मत उक्त प्रमाणोंके बलसे भले ही बने हों किन्तु इतने मात्रसे इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती क्योंकि उक्त कथन मूल कर्मव्यवस्थाके प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन मतोंको प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचारसे ही दिया जा सकता है। वीरसेन स्वामीने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरकमें सुख दुखकी निमित्तभूत सामग्रीके साथ वहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवोंके साता और असाताके उदयका सम्बन्ध देखकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाताका फल है। तथा पूज्यपादस्वामीने संसारी जीवमें बाह्य सामग्रीमें लाभादिरूप परिणाम लाभान्तराय आदिके क्षयोपशमका फल मानकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है। तत्त्वतः बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति न तो साता असाताका ही फल है और न लाभान्तराय आदि कर्मके क्षय व क्षयोपशमका ही फल है। बाह्य सामग्री इन कारणोंसे न प्राप्त होकर अपने अपने कारणोंसे ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापारके साधन जुटाना, राजा महाराजा या सेठ साहुकारकी चाटुकारी करना, उनसे दोस्ती जोड़ना, अर्जित धनकी रक्षा करना, उसे ब्याज पर लगाना, प्राप्त धनको विविध व्यवसायोंमें लगाना, खेती बाड़ी करना, झांसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादयको संचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके साधन हैं। इन व अन्य कारणोंसे बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है उक्त कारणोंसे नहीं।

शङ्का—इन सब बातोंके या इनमेंसे किसी एकके करने पर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्नकी कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शंका—कदाचित् व्यवसाय आदिके नहीं करने पर भी धनप्राप्ति देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है क्या किसीके देनेसे हुई या कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है? यदि किसीके देनेसे हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देनेवालेकी स्वार्थसिद्धि प्रेम आदि कारण है। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है तो ऐसी धनप्राप्ति पुण्योदयका फल कैसे कहा जा सकता है। यह तो चोरी है। अतः चोरी के भाव इस धन प्राप्तिमें कारण हुए न कि साताका उदय।

शंका—दो आदमी एक साथ एकसा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है और दूसरेको हानि?

समाधान—व्यापार करनेमें अपनी अपनी योग्यता और उस समयकी परिस्थिति आदि इसका कारण है पाप पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापारमें एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि लाभ पाप पुण्यका फल माना भी जाय। पर ऐसा होता नहीं, अतः हानि लाभको पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है?

समाधान—एकका गरीब और दूसरेका श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है पुण्य पापका नहीं। जिन देशोंमें पूँजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत संपत्तिके जोड़नेकी कोई मर्यादा नहीं वहाँ अपनी अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार लोग उसका संचय करते हैं और इसी व्यवस्थाके अनुसार गरीब अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है। रूसने बहुत कुछ अंशोंमें इस व्यवस्थाको तोड़

दिया है इसलिये यहाँ इस प्रकारका भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो है ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओंके परे है और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य पापका निर्देश करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्रीका सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड़ चेतन दोनोंको होती है। क्योंकि तिजोड़ीमें भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धनकी प्राप्ति कही जा सकती है। किन्तु जड़के रागादि भाव नहीं होता और चेतनके होता है इसलिये वह उसमें ममकार और अहंकार भाव करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप पुण्यका फल मानना ही पड़ता है ?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप पुण्यके उदयका निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं यह पाप पुण्यका फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने अपने कारणोंसे प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने अपने कारणोंसे प्राप्त होती है। इन्हें पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शंका—सरोगता और नीरोगताके क्या कारण हैं ?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगताके कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति करना आदि नीरोगताके कारण हैं।

इस प्रकार कर्मोंकी कार्यमर्यादाका विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्तिके संयोग वियोगका कारण नहीं है। उनकी तो मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये

है। हाँ जीवके विविध भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं और वे कहीं कहीं बाह्य सम्पत्तिके अर्जन आदिमें कारण पड़ते हैं इतनी बात अवश्य है।

नैयायिक दर्शन—यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी नैयायिक कार्य-मात्रके प्रति कर्मको कारण मानते हैं। वे कर्मको जीवनिष्ठ मानते हैं। इनका मत है कि चेतनगत जितनी विषमताएँ हैं उनका कारण कर्म तो है ही। साथ ही यह अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताओंका और उनके न्यूनाधिक संयोगोंका भी जनक है। उनके मतसे जगतमें द्व्यणुक आदि जितने भी कार्य होते हैं वे किसी न किसी के उपभोगके योग्य होनेसे उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकोंने तीन प्रकारके कारण माने हैं—समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्तकारण। जिस द्रव्यमें कार्य पैदा होता है वह द्रव्य उस कार्यके प्रति समवायीकारण है। संयोग असमवायीकारण है। तथा अन्य सहकारी सामग्री निमित्तकारण है। इसमें भी काल, दिशा, ईश्वर और कर्म ये कार्यमात्रके प्रति निमित्तकारण हैं। इनकी सहायता के बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

ईश्वर और कर्म कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण क्यों हैं इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है कि जितने कार्य होते हैं वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते हैं इसलिये ईश्वर सबका साधारण कारण है।

इस पर यह प्रश्न होता है कि जब सबका कर्ता ईश्वर है तब फिर उसने सबको एक सा क्यों नहीं बनाया। वह सबको एकसे सुख, एकसे भोग और एक-सी बुद्धि दे सकता था। स्वर्ग मोक्षका अधिकारी भी सबको एकसा बना सकता था। दुःखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणियोंको उसे रचना ही नहीं करनी थी। उसने ऐसा क्यों नहीं किया? जगतमें तो विषमता ही विषमता दिखलाई देती है। इसका अनुभव सभीको होता है। क्या जीवधारी और क्या जड़ जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी आकृति, स्वभाव और जाति जुदी-जुदी है। एकका

मेल दूसरेसे नहीं खाता। मनुष्यको ही लीजिए। एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें बड़ा अन्तर है। एक सुखी है तो दूसरा दुखी। एकके पास सम्पत्तिका विपुल भण्डार है तो दूसरा दाने दाने को भटकता फिरता है। एक सातिशय बुद्धिवाला है तो दूसरा निरा मूर्ख। मात्स्यन्यायका तो सर्वत्र ही बोलबाला है। बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाना चाहती है। यह भेद यहीं तक सीमित नहीं है, धर्म और धर्मायतनोंमें भी इस भेदने अड्डा जमा लिया है। यदि ईश्वर ने मनुष्यको बनाया है और वह मन्दिरोंमें बैठा है तो उस तक सबको क्यों नहीं जाने दिया जाता है। क्या उन दलालोंका जो शूद्रोंको मन्दिरमें जानेसे रोकते हैं, उसीने निर्माण किया है? ऐसा क्यों है? जब ईश्वरने ही इस जगतको बनाया है और वह करुणामय तथा सर्व शक्तिमान है तब फिर उसने जगतकी ऐसी विषम रचना क्यों की? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नैयायिकोंने कर्मको स्वीकार करके दिया है। वे जगत की इस विषमताका कारण कर्म मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर जगतका कर्ता है तो सही पर उसने इसकी रचना प्राणियोंके कर्मानुसार की है। इसमें उसका रत्ती भर भी दोष नहीं है। जीव जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे योनि और भोग मिलते हैं। यदि अच्छे कर्म करता है तो अच्छी योनि और अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करता है तो बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। इसीसे कविवर

उनके मतमें जीवात्मा व्यापक है इसलिये जहाँ भी उसके उपभोगके योग्य कायकी सृष्टि होती है वहाँ उसके कर्मका संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिकामें बननेवाली जिन मोटरों तथा अन्य पदार्थोंका भारतीयों द्वारा उपभोग होता है वे उनके उपभोक्ताओंके कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं। इसीसे वे अपने उपभोक्ताओंके पास खिंचे चले आते हैं। उपभोग योग्य वस्तुओंका इसी हिसाबसे विभागीकरण होता है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है वह उसके कर्मानुसार है और जो निर्धन है वह भी अपने कर्मानुसार है। कर्म बटवारेमें कभी भी पक्षपात नहीं होने देता। गरीब और अमीरका भेद तथा स्वामी और सेवकका भेद मानवकृत नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार ही ये भेद होते हैं।

जो जन्मसे ब्राह्मण है वह ब्राह्मण ही बना रहता है और जो शूद्र है वह शूद्र ही बना रहता है। उनके कर्म ही ऐसे हैं जिससे जो जाति प्राप्त होती है जीवन भर वही बनी रहती है।

कर्मवादके स्वीकार करनेमें यह नैयायिकोंकी युक्ति है। वैशेषिकों की युक्ति भी इससे मिलती जुलती है। वे भी नैयायिकोंके समान चेतन और अचेतन गत सब प्रकारकी विषमताका साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भमें ईश्वरवाद पर जोर नहीं दिया। पर परवर्ती कालमें इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

जैन दर्शनका मन्तव्य—किन्तु जैनदर्शनमें बतलाये गये कर्मवादसे इस मतका समर्थन नहीं होता। वहाँ कर्मवादकी प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारों पर की गई है।

ईश्वरको तो जैनदर्शन मानता ही नहीं। वह निमित्तको स्वीकार करके भी कार्यके आध्यात्मिक विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। वैशेषिकोंने कार्य कारण भावकी जो रेखा खींची है वह उसे ... । उसका मत है कि पर्यायक्रमसे उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव

रहना यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव[1] है। जितने प्रकारके पदार्थ हैं उन सबमें यह क्रम चालू है। किसी वस्तुमें भी इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। अनादि कालसे यह क्रम चालू है और अनन्त कालतक चालू रहेगा। इसके मतसे जिस कार्यमें वस्तुकी जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार कार्य होता है। जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव जिस कार्यके अनुकूल होता है वह उसका निमित्त कहा जाता है। कार्य अपने उपादानसे होता है किन्तु कार्यनिष्पत्तिके समय अन्य वस्तुकी अनुकूलता ही निमित्तताकी प्रयोजक है। निमित्त उपकारी कहा जा सकता है कर्ता नहीं। इसलिये ईश्वरको स्वीकार करके कार्यमात्रके प्रति उसको निमित्त मानना उचित नहीं है। इसीसे जैन दर्शनने जगतको अकृत्रिम और अनादि बतलाया है। इस कारणसे यह यावत् कार्योंमें बुद्धिमानकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। घटादि कार्योंमें यदि बुद्धिमान् देखा भी जाता है तो इससे सर्वत्र बुद्धिमानको निमित्त मानना उचित नहीं है ऐसा इसका मत है।

यद्यपि जैन दर्शन कर्मको मानता है तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास वचन और मन इन्हींके प्रति कर्मको निमित्त कारण मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने अपने कारणोंसे होते हैं। कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ पुत्रका प्राप्त होना, उसका मर जाना, रोजगारमें नफा नुकसानका होना, दूसरेके द्वारा अपमान या सम्मानका किया जाना अकस्मात् मकानका गिर पड़ना फसलका नष्ट हो जाना ऋतुका अनुकूल प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़ना, रास्ता चलते चलते अपघातका हो जाना, किसीके ऊपर बिजलीका गिरना, अनुकूल व प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगों व वियोगोंका मिलना आदि ऐसे कार्य हैं जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रमसे इन्हें कर्मोंका कार्य

---

(1) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०।

समझा जाता है। पुत्रकी प्राप्ति होने पर मनुष्य भ्रमवश उसे अपने शुभ कर्मका कार्य समझता है और उसके मर जानेपर भ्रमवश उसे अपने अशुभ कर्मका कार्य समझता है। पर क्या पिताके अशुभोदयसे पुत्रकी मृत्यु या पिताके शुभोदयसे पुत्रकी उत्पत्ति सम्भव है? कभी नहीं। सच तो यह है कि ये इष्टसंयोग या इष्टवियोग आदि जितने भी कार्य हैं वे अच्छे बुरे कर्मोंके कार्य नहीं। निमित्त और बात है और कार्य और बात। निमित्तको कार्य कहना उचित नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक नोकर्म प्रकरण आया है। उससे भी इस कथनकी ही पुष्टि होती है। वहाँ मूल और उत्तर कर्मोंके नोकर्म बतलाते हुए इष्ट अन्न पान आदिको असाता वेदनीयका, विदूषक या बहुरूपियाको हास्यकर्मका, सुपुत्रको रतिकर्मका, इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगको अरति कर्मका, पुत्रमरणको शोक कर्मका, सिंह आदिको भय कर्मका और ग्लानिकर पदार्थोंको जुगुप्सा कर्मका नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डका यह कथन तभी बनता है जब धन सम्पत्ति और दरिद्रता आदिको शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयमें निमित्त माना जाता है।

कर्मोंके अवान्तर भेद करके उनके जो नाम गिनाये गये हैं उनको देखनेसे भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामें कर्म कारण नहीं है। बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता या तो प्रयत्नपूर्वक होती है या सहज ही हो जाती है। पहले साता वेदनीयका उदय होता है और तब जाकर इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है। किन्तु इष्ट सामग्रीका निमित्त पाकर साता वेदनीयका उदय होता है ऐसा है।

---

(१) गाथा ७३। (२) गाथा ७६। (३) गाथा ८७।

रेलगाड़ीसे सफर करने पर हमें कितने ही प्रकारके मनुष्योंका समागम होता है। कोई हँसता हुआ मिलता है तो कोई रोता हुआ। इनसे हमें सुख भी होता है और दुःख भी। तो क्या ये हमारे शुभाशुभ कर्मोंके कारण रेलगाड़ीमें सफर करने आये हैं? कभी नहीं। जैसे हम अपने कामसे सफर कर रहे हैं वैसे वे भी अपने-अपने कामसे सफर कर रहे हैं। हमारे और उनके संयोग वियोगमें न हमारा कर्म कारण है और न उनका ही कर्म कारण है। यह संयोग या वियोग या तो प्रयत्नपूर्वक होता है या काकतालीय न्यायसे सहज होता है। इसमें किसीका कर्म कारण नहीं है। फिर भी यह अच्छे बुरे कर्मके उदयमें सहायक होता रहता है।

नैयायिक दर्शनकी आलोचना—इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर नैयायिकोंके कर्मवादकी आलोचना करने पर उसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं। भारतवर्षमें देखा जाय तो आजकी सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और एकतन्त्रके प्रति नैयायिकोंका ईश्वरवाद और कर्मवाद ही उत्तरदायी है। इसीने भारतवर्षको चालू व्यवस्थाका गुलाम बनाना सिखाया। जातीयताका पहाड़ लाद दिया। परिग्रहवादियोंको परिग्रहके अधिकाधिक संग्रह करनेमें मदद दी। गरीबोंको कर्मका दुर्विपाक बताकर सिर न उठाने दिया। स्वामी सेवक भाव पैदा किया। ईश्वर और कर्मके नाम पर यह सब हमसे कराया गया। धर्मने भी इसमें मदद की। बिचारा कर्म तो बदनाम हुआ ही, धर्मको भी बदनाम होना पड़ा। यह रोग भारतवर्षमें ही न रहा। भारतवर्षके बाहर भी फैल गया।

इस बुराईको दूर करना है—यद्यपि जैन कर्मवादकी शिक्षाओं द्वारा जनताको यह बतलाया गया कि जन्मसे न कोई छूत होता है और न अछूत। यह भेद मनुष्यकृत है। एकके पास अधिक पूँजीका होना और दूसरेके पास एक दमड़ीका न होना, एकका मोटरोंमें घूमना और दूसरेका भीख माँगते हुए डोलना यह भी कर्मका फल नहीं है,

क्योंकि यदि अधिक पूँजीको पुण्यका फल और पूँजीके न होनेको पापका फल माना जाता है तो असंतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे। किन्तु इन शिक्षाओंका जनता और साहित्य पर स्थायी असर नहीं हुआ।

अजैन लेखकोंने तो नैयायिकोंके कर्मवादका समर्थन किया ही, किन्तु उत्तरकालवर्ती जैन लेखकोंने जो कथा साहित्य लिखा है उससे भी प्रायः नैयायिक कर्मवादका ही समर्थन होता है। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको एक प्रकारसे भूलते ही गये और उनके ऊपर नैयायिक कर्मवादका गहरा रंग चढ़ता गया। अजैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये पुण्य पापके वर्णन करनेमें दोनोंने कमाल किया है। दोनों ही एक दृष्टिकोणसे विचार करते हैं। अजैन लेखकोंके समान जैन लेखक भी बाह्य आधारोंको लेकर चलते हैं। वे जैन मान्यताके अनुसार कर्मोंके वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदोंको सर्वथा भूलते गये। जैन दर्शनमें यद्यपि कर्मोंके पुण्य कर्म और पापकर्म ऐसे भेद मिलते हैं पर इससे गरीबी पापकर्मका फल है और सम्पत्ति पुण्य कर्मका फल है यह नहीं सिद्ध होता। गरीब होकर के भी मनुष्य सुखी देखा जाता है और सम्पत्तिवाला होकरके भी वह दुखी देखा जाता है। पुण्य और पापकी व्याप्ति सुख और दुखसे की जा सकती है गरीबी अमीरीसे नहीं। इसीसे जैनदर्शनमें सातावेदनीय और असातावेदनीयका फल सुख-दुख बतलाया है अमीरी गरीबी नहीं। जैन साहित्यमें यह दोष बराबर चालू है। इसी दोषके कारण जैन जनताको कर्मकी अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनमें फँसना पड़ा है। जब वे कथा ग्रन्थोंमें और सुभाषितोंमें यह पढ़ते हैं कि 'पुरुषका भाग्य जागने पर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्यके

(१) सुभाषितरत्नसन्दोह पृ० ४७ श्लोक ३५७।

अभावमें समुद्रमें पैठने पर भी धनकी प्राप्ति होती नहीं।' 'सर्वत्र भाग्य ही फलता है विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता।' तब वे कर्मके सामने अपना मस्तक टेक देते हैं। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको सदाके लिये भूल जाते हैं।

वर्तमानकालीन विद्वान भी इस दोषसे अछूते नहीं बचे हैं। वे भी धन सम्पत्तिके सद्भाव असद्भावको पुण्य पापका फल मानते हैं। इनके सामने आर्थिक व्यवस्थाका रसियाका सुन्दर उदाहरण है रसियामें आज भी थोड़ी बहुत आर्थिक विषमता नहीं है ऐसा नहीं है। यह प्रारम्भिक प्रयोग है। यदि उचित दिशामें काम होता गया और अन्य परिग्रहवादी राष्ट्रोंका अनुचित दबाव न पड़ा तो यह आर्थिक विषमता थोड़े ही दिनकी चीज है। जैन कर्मवादके अनुसार साता असाता कर्मकी व्याप्ति सुख दुखके साथ है बाह्य पूँजीके सद्भाव असद्भावके साथ नहीं। किन्तु जैन लेखक और विद्वान आज इस सत्यको सर्वथा भूले हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें प्रारम्भमें यद्यपि जैन लेखकोंका उतना दोष नहीं है। इस सम्बन्धमें उन्होंने उदारताकी नीति बरती है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि सब मनुष्य एक हैं। उनमें कोई जाति भेद नहीं है। बाह्य जो भी भेद है वह आजीविकाकृत ही है। यद्यपि उन्होंने अपने इस मतका बड़े जोरोंसे समर्थन किया था किन्तु व्यवहारमें वे इस निभा न सके। धीरे धीरे पड़ोसी धर्मके अनुसार उनमें भी जातीय भेद ज़ोर पकड़ता गया।

यद्यपि वर्तमानमें हमारे साहित्य और विद्वानोंकी यह दशा है।

---

(१) भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।

(२) 'मनुष्यजातिरेकैव'।—महापुराण

(३) देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड।

तब भी निराश होनेकी कोई बात नहीं है हमें पुन अपनी मूल शिक्षाओंकी ओर ध्यान देना है। हमें जैन कर्मवादके रहस्य और उसकी मर्यादाओंको समझना है और उनके अनुसार कार्य करना है। माना कि जिस बुराईका हमने ऊपर उल्लेख किया है वह जीवन और साहित्यमें घुल मिल गई है पर यदि इस दिशामें हमारा दृढ़तर प्रयत्न चालू रहा तो वह दिन दूर नहीं जब हम जीवन और साहित्य दोनोंमें आई हुई इस बुराईको दूर करनेमें सफल होंगे।

समताधर्मकी जय, गरीबी और पूँजीको पाप पुण्यका फल न बतलानेवाले कर्मवादकी जय, छूत अछूतको शाश्वत न माननेवाले कर्मवादकी जय, परम अहिंसा धर्मकी जय।

- जैन जयतु शासनम्।



गाथा	विषय	पृष्ठ



॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

सप्ततिका प्रकरण

(षष्ठ कर्मग्रन्थ)

आगममें बतलाया है कि सबसे पहले सर्वज्ञदेवने अर्थका उपदेश दिया। तदनन्तर उसको अवधारण करके गणधर देवने तदनुसार बारह अंगोंको रचा। अन्य आचार्य इन बारह अंगोंको साक्षात् पढ़कर या परंपरासे जानकर ग्रंथ रचना करते हैं। जो शास्त्र या प्रकरण इस प्रकार संकलित किया जाता है, बुद्धिमान लोग उसीका आदर करते हैं, अन्यका नहीं। इतने पर भी वे लोग किसी शास्त्रके अध्ययन और अध्यापन आदि कार्योंमें तभी प्रवृत्त होते हैं जब उन्हें उस शास्त्रमें कहे गये विषय आदिका ठीक तरहसे पता लग जाता है, क्योंकि विषय आदिको बिना जाने प्रवृत्ति करनेवाले लोग न तो बुद्धिमान् ही कहे जा सकते हैं और न उनके किसी प्रकारके प्रयोजनकी ही सिद्धि हो सकती है, अतः इस सप्ततिका प्रकरणके आदिमें इन दो बातोंका बतलाना आवश्यक जानकर आचार्य सबसे पहले जिसमें इनका उल्लेख है, ऐसी प्रतिज्ञागाथा को कहते हैं—

सिद्धपएहिं महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणं ।
वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥

अर्थ—सिद्धपद अर्थात् कर्मप्रकृतिप्राभृत आदिके अनुसार या जीवस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय लेकर बन्धप्रकृतिस्थान,

उदयप्रकृतिस्थान और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंका संक्षेपसे कथन करेंगे, सुनो। जो संक्षेप कथन महान् अर्थवाला और दृष्टिवाद अंगरूपी महार्णवकी एक बूंदके समान है।

विशेषार्थ—मलयगिरि आचार्यने इस गाथामें आये हुए 'सिद्धपद' के दो अर्थ किये हैं। जिन ग्रंथोंके सब पद सर्वज्ञोक्त अर्थका अनुसरण करनेवाले होनेसे सुप्रतिष्ठित हैं, वे ग्रंथ सिद्धपद कहे जाते हैं यह पहला अर्थ है। इस अर्थके अनुसार प्रकृतमें सिद्धपद शब्द कर्मप्रकृति आदि प्राभृतोंका वाचक है, क्योंकि इस सप्ततिका नामक प्रकरणको ग्रंथकारने उन्हीं कर्मप्रकृति आदिके आधारसे संक्षेप रूपमें निबद्ध किया है। गाथाके चौथे चरणमें ग्रंथकारने स्वयं इसे दृष्टिवादरूपी महार्णवकी एक बूंदके समान बतलाया है। मालूम होता है इसी बातको ध्यानमें रखकर मलयगिरि आचार्यने भी सिद्धपदका उक्त अर्थ किया है। तात्पर्य यह है कि दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद हैं। इनमें से पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं, जिनमें दूसरे भेदका नाम अग्रायणीय है। इसके मुख्य चौदह अधिकार हैं जिन्हें वस्तु कहते हैं। इनमेंसे पाँचवीं वस्तुके बीस उप अधिकार हैं जिन्हें प्राभृत कहते हैं। इनमें से चौथे प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। मुख्यतया इसीके आधारसे इस सप्ततिका नामक प्रकरणकी रचना हुई है। इससे हम यह भी जान लेते हैं कि यह प्रकरण सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे गये अर्थका अनुसरण करनेवाला होनेसे प्रमाणभूत है, क्योंकि जिस अर्थको सर्वज्ञदेवने कहा और जिसको गणधर देवने बारह अंगोंमें निबद्ध किया उसीके अनुसार इसकी रचना हुई है।

तथा जिनागममें जीवस्थान और गुणस्थान सर्वत्र प्रसिद्ध हैं या आगे ग्रन्थकार स्वयं जीवस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय लेकर

बन्धस्थान आदिका और उनके संवेध भंगोंका कथन करनेवाले हैं इसलिये मलयगिरि आचार्यने 'सिद्धपद' का दूसरा अर्थ जीवस्थान और गुणस्थान किया है। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थमें या अन्यत्र बन्ध और उदयादिका कथन करनेके लिये जीवस्थान और गुण-स्थानोंका आश्रय लिया गया है, अतः इसी विवक्षासे टीकाकारने 'सिद्धपद'का यह दूसरा अर्थ किया है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि हम यह जान लेते हैं कि इस सप्ततिका नामक प्रकरणमें कर्मप्रकृति प्राभृत आदिके विषयका संक्षेप किया गया है तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें अर्थगौरव नहीं है। यद्यपि ऐसे बहुतसे आख्यान, आलापक और संग्रहणी आदि ग्रंथ हैं जो संक्षिप्त होकर भी अर्थगौरवसे रहित होते हैं पर यह ग्रंथ उनमेंसे नहीं है। ग्रंथकारने इसी बातका ज्ञान करानेके लिये गाथामें विशेषणरूपसे 'महार्थ' पद दिया है।

विषयका निर्देश करते हुए ग्रंथकारने इस गाथामें बन्ध, उदय और सत्त्वप्रकृतिस्थानोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है। जिस प्रकार लोहपिंडके प्रत्येक कणमें अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ परस्पर जो एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। विपाक अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओंके भोगको उदय कहते हैं। तथा बन्धसमयसे लेकर या संक्रमण समयसे लेकर जब तक उन कर्मपरमाणुओंका अन्य प्रकृति रूपसे संक्रमण नहीं होता या जब तक उनकी निर्जरा नहीं होती तब तक उनके आत्मासे लगे रहनेको सत्ता कहते हैं। प्रकृतमें स्थान शब्द समुदायवाची है, अतः गाथामें आये हुए 'प्रकृतिस्थान' पदसे दो तीन आदि प्रकृतियोंके समुदायका ग्रहण होता है। ये प्रकृतिस्थान बन्ध, उदय और सत्त्वके भेदसे तीन प्रकारके हैं। इस ग्रन्थमें इन्हींका विस्तारसे विवेचन किया गया है।

गाथामें 'सुण' यह क्रियापद आया है। इससे ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि आचार्य शिष्यको सावधान करके शास्त्रका व्याख्यान करे। यदि कदाचित् शिष्यके प्रमादित हो जाने पर भी आचार्य उद्विग्न न होवे किन्तु शिक्षायोग्य मधुर वचनोंके द्वारा शिष्योंके मनको प्रसन्न करके आगमका रहस्य समझावे। आचार्यकी यह एक कला है जो शिष्यमें उत्कृष्ट योग्यता ला देती है। सचमुच रत्न शोधकगुणके द्वारा ही गुणोत्कर्षको प्राप्त होता है। आचार्यमें इस शोधक गुणका होना अत्यन्त आवश्यक है। विनीत घोड़ेको काबूमें रखना इसमें सारथिकी महत्ता नहीं है, किन्तु जो सारथि दुष्ट घोड़ेको शिक्षा आदिके द्वारा काबूमें कर लेता है, वही सच्चा सारथि समझा जाता है। यही बात आचार्यमें भी लागू होती है। आचार्यकी सच्ची सफलता इसमें है कि वह प्रमादसे स्खलित हुए शिष्योंको भी सुपथगामी बनावे और उन्हें आगमके अध्ययनमें लगावे। पर यह बात कठोरतासे नहीं प्राप्त की जा सकती है, किन्तु सरल व्यवहार द्वारा शिष्योंके मनको हरण करके ही प्राप्त की जा सकती है। आचार्यके इस कर्तव्यको सूचित करनेके लिये ही गाथामें 'सुण' यह क्रियापद दिया है।

अब बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंके संवेधरूप संक्षेपसे कहनेकी इच्छासे आचार्य शिष्य द्वारा प्रश्न कराके भंगोंके कहनेकी सूचना करते हैं—

कइ बंधंतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
मूलुत्तरपगईसु भंगवियप्पा उ बोधव्वा ॥२॥

अर्थ—कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका वेदन होता है, तथा कितनी प्रकृतियोंका बन्ध और वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका सत्त्व होता है? इस

प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें अनेक भंग जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ग्रंथकारने गाथाके पूर्वार्धमें शिष्यद्वारा यह शंका उपस्थित कराई है कि कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होते समय कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है, आदि। तथा गाथाके उत्तरार्धमें शिष्य की उपर्युक्त शंकाका उत्तर देते हुए कहा है कि मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें अनेक भंग जानना चाहिये। इस प्रकार इस गाथाके वाच्यार्थका विचार करने पर उससे हमें स्पष्टतः विषय विभागकी सूचना मिलती है। मुख्यतया इस प्रकरणमें मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध प्रकृतिस्थान, उदय प्रकृतिस्थान और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंका तथा उनके परस्पर संवेध[1] और उससे उत्पन्न हुए भंगोंका विचार किया गया है। अनन्तर उन्हें यथास्थान जीवस्थान और गुणस्थानोंमें घटित करके बतलाया गया है। इसी विषयविभागको ध्यानमें रखकर मलयगिरि आचार्य सबसे पहले आठ मूल प्रकृतियोंके बन्धप्रकृतिस्थान, उदय प्रकृतिस्थान और सत्त्वप्रकृति स्थानोंका कथन करते हैं, क्योंकि इनका कथन किये बिना आगे तीसरी गाथामें बतलाये गये इन स्थानोंके संवेधका सरलतासे ज्ञान नहीं हो सकता है। इनके साथ ही साथ उन्होंने प्रसंगानुसार इन स्थानोंके काल और स्वामी का भी निर्देश किया है।

बन्धस्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार मूल प्रकृतियोंके कुल बन्धस्थान चार

(१) 'संवेध परस्परमेककालमागमाविरोधेन मीलनम्।'

– कमप्र० बंधोद० पृ० ६५

होते हैं। इनमें से आठ प्रकृतिक बन्धस्थानमें सब मूल प्रकृतियोंका, सात प्रकृतिक बन्धस्थानमें आयुकर्मके बिना सातका, छह प्रकृतिक बन्धस्थानमें आयु और मोहनीय कर्मके बिना छहका तथा एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ग्रहण होता है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि आयु कर्मका बाँधनेवाले जीवके आठों कर्मोंका, मोहनीय कर्मका बाँधनेवाले जीवके आठोंका या आयु बिना सातका, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका, सातका या छहका तथा एक वेदनीय कर्मका बाँधनेवाले जीवके आठोंका, सातका, छहका या एक वेदनीय कर्मका बन्ध होता है।

स्वामी—आयु कर्मका बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है, किन्तु मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता। अतः मिश्र गुणस्थानके बिना शेष छह गुणस्थान वाले जीव आयुबन्धके समय आठ प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। मोहनीय कर्मका बन्ध नौवें गुणस्थान तक होता है, अतः प्रारम्भके नौ गुणस्थानवाले जीव सात प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। किन्तु जिनके आयु कर्मका बन्ध होता है वे सात प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी नहीं होते। आयु और मोहनीय कर्मके बिना शेष छह कर्मोंका बन्ध केवल दसवें गुणस्थानमें होता है, अतः सूक्ष्मसाम्परायिक

---

(१) 'आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए। बज्झंतयम्मि बज्झंति सेसएसु छ सत्तऽट्ठ ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २।

(२) छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसु य सत्तविहं। छव्विहमेक्कट्ठाणे तिसु एक्कमबंधगो एक्को ॥—गो० कर्म० गा० ४५२।

संयत जीव छह प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। तथा केवल वेदनीयका बन्ध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें होता है, अत उक्त तीन गुणस्थानवाले जीव एक प्रकृतिक बन्धस्थान के स्वामी होते हैं।

बन्धस्थानोंका काल — आयुकर्मका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है। तथा आठ प्रकृतिक बन्धस्थान आयुकर्म के बन्धके समय ही होता है, अत आठ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण जानना चाहिये। सात प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जो अप्रमत्तसंयत जीव आठ मूल प्रकृतियोंका बंध करके सात प्रकृतियोंके बन्धका प्रारम्भ करता है, वह यदि उपशम श्रेणी पर आरोहण करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है तो उसके सात प्रकृतिक बन्धस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है, कारण कि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें छह प्रकृतिक स्थानका बन्ध होने लगता है, इसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी अपेक्षा भी सात प्रकृतिक बन्धस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त किया जा सकता है। तथा सात प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्टकाल छह माह और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्षका त्रिभाग अधिक तेतीस सागर है। क्योंकि जब एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण आयुवाले किसी मनुष्य या तिर्यंचके आयुके एक त्रिभाग शेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त कालतक पर भवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। अनन्तर भुज्यमान आयुके समाप्त हो जानेपर वह जीव तेतीस सागरप्रमाण उत्कृष्ट आयुवाले देवोंमें या नारकियोंमें उत्पन्न होकर और वहाँ आयुके

छह माह शेष रहने पर पुनः परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध करता है तब उसके सात प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तमुहूर्त है। यह हम पहले ही बतला आये हैं कि छह प्रकृतिक बन्धस्थानका स्वामी सूक्ष्मसम्परायसंयत जीव होता है, अतः उक्त गुणस्थानवाला जो उपशामक जीव उपशम श्रेणी पर चढ़ते समय या उतरते समय एक समयतक सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थानमें रहता है और मरकर दूसरे समयमें अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है उसके छह प्रकृतिक बन्ध स्थानका जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है। तथा छह प्रकृतिक बन्धस्थानका अन्तमुहूर्तप्रमाण उत्कृष्टकाल सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा कहा है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुण स्थानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है। एक प्रकृतिक बन्धस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। जो उपशम श्रेणीवाला जीव उपशान्तमोह गुण स्थानमें एक समय तक रहता है और मरकर दूसरे समयमें देव हो जाता है, उस उपशान्त मोही जीवके एक प्रकृतिक बन्ध स्थान का जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है। तथा एक पूर्व कोटि वर्षकी आयुवाला जो मनुष्य सात माह गर्भमें रहकर और तद नन्तर जन्म लेकर आठ वर्ष प्रमाण कालके व्यतीत होने पर संयमको प्राप्त करके एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर क्षीणमोह हो जाता है, उसके एक प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष सात मास और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण प्राप्त है।

बन्धस्थनोंकी उक्त विशेषाओं का ज्ञापक कोष्ठक

[१]

बन्धस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृ०	सब	मिश्र बिना अप्रमत्त तक	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७ प्रकृ०	आयु बिना	प्रारम्भ के ६ गुण०	अन्तर्मुहूर्त	एक अन्तर्मु० और छह माह कम तथा पूर्वकोटि का त्रिभाग अधिक तेतीस सागर
६ प्रकृ०	मोह व आयु बिना	सूक्ष्म सम्पराय	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ०	वेदनीय	११वाँ, १२वाँ, व १३ वाँ गुण०	एक समय	देशोन पूर्वकोटि

उदयस्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक इस प्रकार मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा उदयस्थान तीन होते हैं। आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें सब मूल प्रकृतियोंका, सात प्रकृतिक उदयस्थानमें मोहनीय कर्मके बिना सातका और चार प्रकृतिक उदयस्थानमें चार अघाति कर्मोंका ग्रहण होता है। इससे यह भी निष्कर्ष

जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है। जो जीव उपशम श्रेणीसे गिरकर पुन अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उपशमश्रेणी पर चढ़कर उपशान्तमोही हो जाता है उस जीवके आठ प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त कालके प्रारम्भमें उपशान्तमोही और अन्तमें क्षीणमोही हुआ है, उसके आठ प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण पाया जाता है। सात प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। यद्यपि सात मूल प्रकृतियोंका उदय उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। पर क्षीणमोह गुणस्थानमें न तो मरण ही होता है और न उससे जीवका प्रतिपात ही होता है। ऐसा जीव तीन घाति कर्मोंका नाश करके नियमसे सयोगिकेवली हो जाता है। हाँ उपशान्तमोह गुणस्थानमें मरण भी होता है और उससे जीव का प्रतिपात भी होता है, अत जो जीव एक समय तक उपशान्त मोह गुणस्थानमें रहकर और मरकर दूसरे समयमें अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है उसके सात प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय पाया जाता है। तथा उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अत सात प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। चार प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि प्रमाण है। जो जीव सयोगिकेवली होकर एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर निर्वाणको प्राप्त हो जाता है उसके चार प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त पाया जाता है। तथा पहले हम जो एक प्रकृतिक बन्धस्थानका काल घटित करके बतला आये हैं, वही यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थानका काल

निकल आता है कि मोहनीयके उदय रहते हुए आठका उदय होता है। मोहनीय बिना शेष तीन घातिकर्मोंका उदय रहते हुए आठका या सातका उदय होता है। इनमेंसे आठका उदय सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तक होता है और सातका उदय उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। तथा चार अघाति कर्मोंका उदय रहते हुए आठ, सात या चारका उदय होता है। इनमेंसे आठका उदय सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तक सातका उदय उपशान्त मोह या क्षीणमोह गुणस्थानमें और चारका उदय सयोगिकेवली तथा अयोगिकेवली गुणस्थानमें होता है।

स्वामी—मोहनीयका उदय दसवें गुणस्थान तक होता है, अतः आठ प्रकृतिक उदयस्थानके स्वामी प्रारम्भके दस गुणस्थानके जीव हैं। शेष तीन घाति कर्मोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक होता है, अतः सात प्रकृतिक उदयस्थानके स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानके जीव हैं, तथा चार अघाति कर्मोंका उदय अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है, अतः चार प्रकृतिक उदयस्थानके स्वामी सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जीव हैं।

काल—आठ प्रकृतिक उदयस्थानका काल अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि-सान्त इस तरह तीन प्रकारका है। अभव्योंके अनादि-अनन्त भव्योंके अनादि-सान्त और उपशान्त मोह गुणस्थानसे गिरे हुए जीवोंके सादि-सान्त काल होता है। प्रकृतमें सादि सान्त विकल्पकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक उदयस्थानका

(१) मोहस्सुदए अट्ठ वि सत्त य लब्भंति सेसयाणुदए। सन्तोइण्णाणि अघाइयाणं अट्ठ सत्त चउरो य॥—पञ्चसं० सप्तति० गा० ३।

(२) अट्ठुदओ सुहुमो त्ति य मोहेण विणा हु सतखीणेसु। घादिदराण चउक्कस्सुदओ केवलिदुगे णियमा॥—गो० कर्म० गा० ४५४।

जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है। जो जीव उपशम श्रेणीसे गिरकर पुन अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उपशमश्रेणी पर चढकर उपशान्तमोही हो जाता है उस जीवके आठ प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त कालके प्रारम्भमें उपशान्तमोही और अन्तमें क्षीणमोही हुआ है, उसके आठ प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण पाया जाता है। सात प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। यद्यपि सात मूल प्रकृतियोंका उदय उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। पर क्षीणमोह गुणस्थानमें न तो मरण ही होता है और न उससे जीवका प्रतिपात ही होता है। ऐसा जीव तीन घाति कर्मोंका नाश करके नियमसे सयोगिकेवली हो जाता है। हाँ उपशान्तमोह गुणस्थानमें मरण भी होता है और उससे जीव का प्रतिपात भी होता है, अत जो जीव एक समय तक उपशान्त मोह गुणस्थानमें रहकर और मरकर दूसरे समयमें अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है उसके सात प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय पाया जाता है। तथा उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अत सात प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। चार प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि प्रमाण है। जो जीव सयोगिकेवली होकर एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर निर्वाणको प्राप्त हो जाता है उसके चार प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त पाया जाता है। तथा पहले हम जो एक प्रकृतिक बन्धस्थानका काल घटित करके बतला आये हैं, वही यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थानका काल

प्राप्त होता है। तथा सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है, अत चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण प्राप्त होता है। यहाँ कुछ कमसे आठ वर्ष सातमास और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालका ग्रहण करना चाहिये।

सत्त्वस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक

[३]

सत्त्वस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृतिक	सब	प्रारम्भ के ११ गु०	अनादि सान्त	अनादि अनन्त
७ प्रकृतिक	मोहनीय बिना	क्षीणमोह गु	अन्तमु	अन्तर्मु०
४ प्रकृतिक	४ अघा ति	सयोगी व अयोगी	अन्तर्मु०	देशोन पूर्वको०

९ आठ मूल कर्मोंके संवध भंग

अब मूल प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंके परस्पर कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं ।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥

अर्थ—आठ, सात और छह प्रकारके कर्मोका बन्ध होते समय उदय और सत्ता आठों कर्मोंकी होती है। केवल वेदनीयका बन्ध होते समय उदय और सत्ताकी अपेक्षा तीन विकल्प होते हैं, तथा बन्धके न होने पर उदय और सत्ताकी अपेक्षा एक ही विकल्प होता है।

विशेषार्थ—मिश्र गुणस्थानके बिना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तकके जीव आयुबन्धके समय आठों कर्मोंका बन्ध कर सकते हैं। अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थान तकके जीव आयु बिना सात कर्मोंका बन्ध करते हैं और सूक्ष्मसम्पराय संयत जीव आयु और मोहनीय कर्मके बिना छह कर्मोंका बन्ध करते हैं। ये सब उपर्युक्त जीव सराग होते हैं और सरागता मोहनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होती है। तथा मोहनीय का उदय रहते हुए उसकी सत्ता अवश्य पाई जाती है, अतः आठ, सात और छह प्रकारके कर्मोंका बन्ध होते समय उदय व सत्ता आठों कर्मों की होती है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस कथनसे तीन भंग प्राप्त होते हैं। जो निम्नप्रकार हैं—(१) आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व। (२) सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) छह प्रकृतिक बन्ध आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व।

(१) सत्तट्ठबंधगेसु उदओ अट्ठण्ह होइ पयडीणं। सत्तण्ह चउण्ह वा उदओ सायस्स बंधम्मि ॥—पञ्चसं० सप्तति० गा० ४।

'अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा। एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि ॥'—गो० कर्म० गा० ६२८।

इनमें पहला भंग आयु कर्मके बंधके समय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है शेषमें नहीं, क्योंकि शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्मका बंध नहीं होता, किन्तु मिश्र गुणस्थान इसका अपवाद है। तात्पर्य यह है कि मिश्र गुणस्थानमें आयु कर्मका बंध नहीं होता, अत यहाँ पहला भंग सम्भव नहीं। दूसरा भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्ति बादरसम्पराय गुणस्थान तक होता है। यद्यपि मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आयुकर्मका बंध नहीं होता, अत वहाँ तो यह दूसरा भंग हो होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंके भी जब आयु कर्मका बंध नहीं होता, अत वहाँ भी जब आयुकर्मका बंध नहीं होता तब यह दूसरा भंग बन जाता है। तथा तीसरा भंग सूक्ष्मसम्पराय संयत जीवोंके होता है, क्योंकि इनके आयु और मोहनीय कर्मके बिना छह कर्मोंका ही बंध होता है। अब इन तीन भंगोंके कालका विचार करने पर आठ, सात और छह प्रकृतिक बंधस्थानके जघन्य और उत्कृष्ट कालके समान क्रमश इन तीन भंगोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल जानना चाहिये, क्योंकि उक्त बंधस्थानों की प्रधानतासे ही ये तीन भंग प्राप्त होते हैं इन कालोंका खुलासा हम उक्त बंधस्थानोंका कथन करते समय कर आये हैं इसलिए यहां अलग से नहीं किया है।

एक वेदनीयका बंध उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानमें होता है किन्तु उपशान्त मोह गुणस्थानमें सातका उदय और आठका सत्त्व, क्षीणमोह गुणस्थानमें सातका उदय और सातका सत्त्व सयोगिकेवली गुणस्थानमें चारका उदय और चारका सत्त्व पाया जाता है, अत यहाँ उदय और अपेक्षा तीन भंग प्राप्त होते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(१) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व (२) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) एक प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व।

इनमें से पहला भंग उपशान्त मोह गुणस्थानमें होता है, क्योंकि वहा मोहनीय कर्मके बिना सात कर्मोंका उदय होता है किन्तु सत्ता आठों कर्मोंकी होती है। दूसरा भंग क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मोहनीय कर्मका समूल नाश क्षपक सूक्ष्मसम्पराय संयत जीवके हो जाता है, अत क्षीणमोह गुणस्थानमें उदय और सत्ता सात कर्मोंकी ही पाई जाती है। तथा तीसरा भंग सयोगिकेवली गुणस्थानमें पाया जाता है, क्योंकि यहा उदय और सत्त्व चार अघाति कर्मोंका ही होता है। इस प्रकार ये तीन भंग क्रमश ग्यारहवे, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानकी प्रधानतासे होते हैं अत इन तीन गुणस्थानोंका जो जघन्य और उत्कृष्ट काल है वही क्रमश इन तीन भंगोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल जानना चाहिये।

अयोगिकेवली गुणस्थान में किसी भी कर्मका बन्ध नहीं होता किन्तु यहा उदय और सत्त्व चार अघाति कर्मोंका पाया जाता है अत यहा चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक ही भंग होता है। तथा अयोगिकेवली गुणस्थान के जघन्य और उत्कृष्ट कालके समान इस भंग का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिये। इस प्रकार मूल प्रकृतियो के बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानों की अपेक्षा कुल संवेध भंग सात होते हैं। अब आगे इनकी उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक दिया जाता है—

[४]

बन्धस्था०	उदयस्था०	सत्त्वस्था०	स्वामी	काल	
				जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृ०	८ प्रकृ	८ प्रकृ०	मिश्र बिना अप्र० तक छह गुण०	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त
७ प्रकृ०	८ प्रकृ	८ प्रकृ०	प्रारम्भ के ९ गुण०	अन्तर्मु०	छमाह और अन्त० कम पूर्वकोटिका त्रिभाग अधिक तेतीस सागर
६ प्रकृ०	८ प्रकृ०	८ प्रकृ०	सूक्ष्मसम्प०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ	७ प्रकृ०	८ प्रकृ०	उपशान्तमोह	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ	७ प्रकृ०	७ प्रकृ०	क्षीणमोह	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ०	४ प्रकृ	४ प्रकृ०	सयोगी जिन	अन्तर्मु०	देशोन पूर्वको०
०	४ प्रकृ०	४ प्रकृ०	अयोगी जिन	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त

२ मूलकर्मोंके जीवस्थानोंमें संवेध भंग

अब मूल प्रकृतियों की अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्प्रकृति स्थानोंके परस्पर संवेध से प्राप्त हुए इन विकल्पोंको जीवस्थानोंमें बतलाते हैं—

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु।
एगम्मि पंच भंगा दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रारम्भ के तेरह जीवस्थानों में सात प्रकृतिक बन्ध आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थानमें प्रारम्भके पांच भंग होते हैं, तथा केवली जिनके अन्तके दो भंग होते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि जीव अनन्त हैं और उनकी जातियाँ भी बहुत हैं। फिर भी जिन समान पर्यायरूप धर्मोंके द्वारा उनका संग्रह किया जाता है, उन्हें जीवस्थान या जीवसमास कहते हैं। ऐसे धर्म प्रकृतमें चौदह विवक्षित हैं अतः इनकी अपेक्षा जीवस्थानोंके भी चौदह भेद हो जाते हैं। यथा—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त तीन इन्द्रिय, पर्याप्त तीन इन्द्रिय, अपर्याप्त चार इन्द्रिय, पर्याप्त चार इन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय। इनमेंसे प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें दो भंग होते हैं, क्योंकि इन जीवोंके दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयकी उपशमना या क्षपणा करनेकी योग्यता नहीं पाई जाती, अतः इनके अधिकतर मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। यद्यपि इनमेंसे कुछके सास्वादन गुणस्थान भी सम्भव है फिर भी उससे भंगोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन जीवसमासों में जो दो भंग होते हैं, उनका उल्लेख गाथामें ही किया है। इन दो भंगोंमें से सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह

पहला भंग जब आयुकर्मका बंध नहीं होता तब होता है। तथा आठ प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह दूसरा भंग आयुकर्मके बन्धके समय होता है। इनमेंसे पहले भंगका काल प्रत्येक जीवस्थानके आयुके कालका विचार करके यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये। किन्तु दूसरे भंगका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि आयुकर्मके बन्धका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके उक्त दो भंग तो होते ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त (१) छह प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व (२) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) एक प्रकृतिक बंध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व ये तीन भंग और होते हैं। इस प्रकार पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके कुल पाँच भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होता है। दूसरा भंग अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है। तीसरा भंग उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीमें विद्यमान सूक्ष्म सम्पराय संयत जीवोंके होता है। चौथा भंग उपशान्तमोह गुणस्थानमें होता है और पाँचवाँ भंग क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। केवलीके दो भंग होते हैं, यह जो गाथामें बतलाया है सो इसका यह तात्पर्य है कि केवली जिनके एक प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व तथा चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग सयोगिकेवलीके होता है क्योंकि एक प्रकृतिक बंधस्थान उन्हींके पाया जाता है। तथा दूसरा भंग अयोगिकेवलीके होता है, क्योंकि इनके किसी भी कर्मका बंध न होकर केवल चार अघाति कर्मोंका उदय और सत्त्व पाया जाता है। यद्यपि चौदह जीवस्थानोंमें केवली नामका

पृथक् जीवस्थान नहीं गिनाया है, अत इसका उपचारसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त नामक जीवस्थानमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। किन्तु केवली जीव संज्ञी नहीं होते हैं, क्योंकि उनके क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते अत केवलीमें संज्ञित्वका निषेध करनेके लिये गाथामें उनके भंगोंका पृथक् निर्देश किया है। कोष्ठक निम्नप्रकार है—

[५]

बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	जीवस्थान	काल	
				जघन्य	उत्कृष्ट
८	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	यथायोग्य
६	८	८	संज्ञी प०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१	७	८	संज्ञी प०	एक समय	अन्तर्मु०
१	७	७	संज्ञी प०	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
१	४	४	सयोगि के०	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि
०	४	४	अयोगि०	पाँच ह्रस्व स्वरों के उ०का० प्र०	पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण काल प्र०

विशेषार्थ—मोह और योगके निमित्तसे जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेष होती है उसे गुणस्थान कहते हैं। यहाँ गुणसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जीवके स्वभाव लिये गये हैं और स्थानसे उनकी तारतम्यरूप अवस्थाओंका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके तथा योगके रहते हुए जिन मिथ्यात्व आदि परिणामोंके द्वारा जीवोंका विभाग किया जाता है, उन परिणामोंको गुणस्थान कहते हैं। वे गुणस्थान चौदह हैं–मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। इनमें से प्रारम्भके बारह गुणस्थान मुख्यतया मोहनीय कर्मके निमित्तसे होते हैं, क्योंकि इन गुणस्थानों का विभाग इसी अपेक्षासे किया गया है। तथा सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान योगके निमित्तसे होते हैं, क्योंकि सयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका सद्भाव और अयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव लिया गया है। इनमेंसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर प्रारम्भके अप्रमत्तसंयत तक के छह गुणस्थानोंमें आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। यहाँ पहला भंग आयुकर्मके बन्धके समय होता है और दूसरा भंग आयुकर्मके बन्धकालके सिवा सर्वदा

पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति बादरसम्पराय इन तीन गुणस्थानोंमें सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता ऐसा नियम है, अतः इनमें एक सात प्रकृतिक बन्धस्थान ही पाया जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें छह प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें बादर कषायका उदय न होनेसे आयु और मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं होता किन्तु शेष छह कर्मोंका ही बन्ध होता है। उपशान्तमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्ध सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मोहनीय कर्म उपशान्त होनेसे सात कर्मोंका ही उदय होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका समूल नाश हो जानेसे यहाँ उसका उदय और सत्त्व नहीं है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग है क्योंकि यह गुणस्थान चार घाति कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है अतः इसमें चार घाति कर्मोंका उदय और सत्त्व नहीं होता। अयोगिकेवली गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि इसमें योगका अभाव हो एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता है।

चौदह गुणस्थानोंमें मूल प्रकृतियोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[६]

भंग क्रम	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुणस्थान
१	८ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१ २, ४, ५, ६ व ७
२	७ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ व ९
३	६ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१० वाँ
४	१ प्रकृ०	७ प्र०	८ प्रकृतिक	११ वाँ
५	१ प्रकृ०	७ प्र०	७ प्रकृतिक	१२ वाँ
६	१ प्रकृ०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१३ वाँ
७	०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१४ वाँ

४ उत्तर प्रकृतियोंके संवेध भंग।

(ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्म)

इस प्रकार मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्त्व

प्रकृतिस्थानोंके परस्पर संवेध का और उनके स्वामित्वका कथन किया। अब उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा बंध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंके परस्पर संवेधका कथन करते हैं। उसमें भी पहले ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मकी अपेक्षा कथन करते हैं—

बंधोदयसंतंसा नाणावरणंतराइए पंच।

बंधोवरमे वि तहा उदसंता हुंति पंचेव ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनोंमें से प्रत्येककी अपेक्षा पाँच प्रकृतियोंका बंध, पाँच प्रकृतियोंका उदय और पाँच प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा बंधके अभावमें भी उदय और सत्त्व पाँच पाँच प्रकृतियोंका होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण और उसकी पाँचों उत्तर प्रकृतियोंका बंध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है। इसी प्रकार अन्तराय और उसकी पाँचों उत्तर प्रकृतियोंका बंध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है, क्योंकि आगममें जो सैंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ गिनाई हैं, उनमें ज्ञानावरणकी पाँच और अन्तरायकी पाँच इस प्रकार ये दस प्रकृतियाँ भी सम्मिलित हैं। तथा इनकी बन्ध व्युच्छित्ति दसवें गुणस्थानके अन्तमें और उदय तथा सत्त्वव्यु-च्छित्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। अतः इन दोनों कर्मोंमें से प्रत्येककी अपेक्षा दसवें गुणस्थान तक पाँच प्रकृतिक बंध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। तथा ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें पाँच प्रकृतिक

(१) 'सगं नाणन्तराएसु ॥ ६ ॥ नाणंतरायबंधा आसुहुम उदयसंतया खीण ॥ ७ ॥'—पंचसं० सप्तति०। बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतराइए पंच। बंधोवरमे वि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥'—गो० कर्म० गा० ६३०।

उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। इस प्रकार पाँचों ज्ञानावरण और पाँचों अन्तरायकी अपेक्षा संवेधभंग कुल दो प्राप्त होते हैं।

उक्त संवेध भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[७]

भंग	बंध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुण०	काल	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१	५	५ प्र०	५ प्र०	१से१०	अन्तर्मु०	देशोन अपार्ध पु० प०
२	०	५ प्र	५ प्र०	११ व १२	एक समय	अन्तर्मु०

कालका विचार करते समय पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस भंगके अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ये तीन विकल्प प्राप्त होते हैं। इनमेंसे अभव्योंके अनादि-अनन्त विकल्प होता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव या उपशान्तमोह गुणस्थानको नहीं प्राप्त हुआ सादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके तथा श्रेणी पर आरोहण करके उपशान्त मोह या क्षीणमोह हो जाते हैं, उनके अनादि-सान्त विकल्प होता है। तथा उपशान्त मोह गुणस्थानसे पतित हुए जीवोंके सादि-सान्त विकल्प होता है। कोष्ठकमें जो इस भंगका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण बतलाया है सो वह कालके सादि-सान्त विकल्पकी अपेक्षासे ही बतलाया है,

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चार प्रकृतिक ये तीन बन्धस्थान और ये ही तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु उदयस्थान चारप्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक ये दो होते हैं।

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्मके बन्धस्थान तीन हैं—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चार प्रकृतिक। नौप्रकृतिक बन्धस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थान में स्त्यानर्द्धि तीनको छोड़ कर छह प्रकृतियों का बन्ध होता है और चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें निद्रा आदि पाँच प्रकृतियोंको छोड़कर शेष चार प्रकृतियोंका बन्ध होता है। नौ प्रकृतिक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थानके पहले भाग तक होता है और चार प्रकृतिक बन्धस्थान अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है। नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके कालकी अपेक्षा तीन भंग हैं—अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि अभव्योंके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका कभी भी विच्छेद नहीं होता। अनादि-सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि इनके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका कालान्तरमें विच्छेद पाया जाता है।

णाणि। ॥४५९॥ णव सासणो त्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपढमभागो त्ति। चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमो त्ति ॥४६०॥ खीणो त्ति चारि उदया पंचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु। एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पंचुदया ॥४६१॥ मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टीखवगपढमभागो त्ति। णवसत्ता खीणस्स दुचरिमो त्ति य छच्चदुचरिमे ॥४६२॥'—गो० कर्म०।

तथा सादि सान्त विकल्प सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुए जीवोंके पाया जाता है। इनमेंसे सादि-सान्त नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गलपरावर्त प्रमाण है। सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ जो जीव अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा जो जीव अपार्ध पुद्गलपरावर्त कालके प्रारम्भमें सम्यग्दृष्टि होकर और अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्वके साथ रहकर मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। अनन्तर अपार्ध पुद्गल परावर्त कालमें अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जो पुनः सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जो जीव सकल संयमके साथ सम्यक्त्वको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अपूर्वकरणके प्रथम भागको व्यतीत करके चार प्रकृतियोंका बन्ध करने लगता है उसके छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। या जो उपशम सम्यग्दृष्टि अति स्वल्प काल तक उपशम सम्यक्त्वके साथ रहकर पीछे मिथ्यात्वमें चला जाता है उसके भी छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा छह प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि मध्यमें सम्यग्मिथ्यात्वसे अन्तरित होकर सम्यक्त्वके साथ रहनेका उत्कृष्ट काल इतना ही है। अनन्तर यह जीव या तो मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर और सयोगिकेवली होकर क्रम से सिद्ध हो जाता है। चार प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल एक समय है, क्योंकि जिस जीवने अपूर्वकरणके

द्वितीय भागमें प्रविष्ट होकर एक समय तक चार प्रकृतियों का बन्ध किया और मर कर दूसरे समय में देव हो गया उसके चार प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल एक समय देखा जाता है। तथा चार प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी के पूरे कालका योग अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होता। तिस पर इस स्थानका बन्ध तो अपूर्वकरणके द्वितीय भागसे लेकर सूक्ष्मसम्परायके अन्तिम समय तक ही होता है।

दर्शनावरण कर्मके सत्त्वस्थान भी तीन ही हैं—नौप्रकृतिक, छह प्रकृतिक और चार प्रकृतिक। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें स्त्यानर्द्धि तीनको छोड़कर शेष छह प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें निद्रादि पाँचको छोड़कर शेष चार का सत्त्व होता है। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उपशान्तमोह गुणस्थान तक होता है। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थान क्षपक अनिवृत्ति बादरसम्परायके दूसरे भागसे लेकर क्षीणमोह गुणस्थानके उपान्त्य समयतक होता है और चार प्रकृति सत्त्वस्थान क्षीणमोह गुणस्थान के अन्तिम समयमें होता है। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके कालकी अपेक्षा दो भंग हैं-अनादि अनंत और अनादि सांत। इनमेंसे पहला विकल्प अभव्यों के होता है, क्योंकि इनके नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान का कभी विच्छेद नहीं पाया जाता। दूसरा विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि इनके कालान्तर में इस स्थानका विच्छेद देखा जाता है। यहाँ सादि सान्त यह विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका विच्छेद क्षपकश्रेणी में होता है परन्तु क्षपक श्रेणीसे जीवका प्रतिपात नहीं होता। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि यह स्थान क्षपक अनिवृत्तिके दूसरे भागसे लेकर क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक

होता है जिसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है क्योंकि यह स्थान क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है।

दर्शनावरण कर्मके उदयस्थान दो हैं—चार प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक निरन्तर पाया जाता है अतः इन चारोंका समुदायरूप एक उदयस्थान है। इन चार प्रकृतियोंमें निद्रादि पाँचमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छह प्रकृतिक आदि उदय स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि निद्रादिकमेंसे दो या दोसे अधिक प्रकृतियोंका एक साथ उदय नहीं होता किन्तु एक कालमें एक प्रकृतिका ही उदय होता है। दूसरे निद्रादिक अध्रुवोदय प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि उदय योग्य कालके प्राप्त होने पर ही इनका उदय होता है, अतः यह पाँच प्रकृतिक उदयस्थान कदाचित् प्राप्त होता है।

अब दर्शनावरण कर्मके बन्ध उदय और सत्त्वस्थानोंके परस्पर संवेधसे उत्पन्न हुए भंगोंका कथन करते हैं—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता।
छच्चउबंधे चेव चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता।

(१) 'चउपणउदओ बंधेसु तिसु वि अबंधगे वि उवसंते। नव संत अट्ठेव उइण्णसंताइं चउखीणे॥ नवबंधे दुदुसमं चउबंधमि अबंधगंमि खीणम्मि। छस्संत चउरुदओ पंचण्ह वि केइ इच्छंति॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० १३, १४। 'विदियावरणे णवबंधगेसु चदुपंचउदय णव सत्ता। छब्बंधगेसु (छब्बंधगे) एवं तह चदुबंधे छडंसा य॥ उवरदबंधे चदुपंच उदय णव छक्क सत्त चदु जुगलं।'—गो० कर्म० गा० ६३१, ६३२।

अर्थ—दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और सत्ता नौ प्रकृतियोंकी होती है। छ और चार प्रकृतियो का बन्ध होते समय उदय और सत्ता पहलेके समान होती है। चार प्रकृतियोंका बन्ध और चार प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता छ प्रकृतियोंकी होती है। तथा बन्धका विच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता नौकी होती है और चार प्रकृतियों का उदय रहते हुए सत्ता छह और चार की होती है॥

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान में चक्षुदर्शनावरण आदि चार ध्रुवोदय प्रकृतियाँ ली गई हैं। तथा इनमें निद्रादिक पाँच प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक बन्ध और नौ प्रकृतिक सत्त्वके रहते हुए उदयकी अपेक्षा दो भग होते हैं—(१) नौप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) नौ प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। इनमें से पहला भग निद्रादिमेंसे किसी एकके उदयके बिना होता है और दूसरा भग निद्रादिकमेंसे किसी एकके उदयके सद्भाव म होता है।

'छ प्रकृतिक बन्ध और चार प्रकृतिक बन्धके होते हुए उदय और सत्ता पहलेके समान होती है।' इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक जीवोंके छ प्रकृतियोंका बन्ध चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा

उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तकके जीवोंके चार प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। यहाँ इन दोनों स्थानोंकी अपेक्षा कुल भंग चार होते हैं—(१) छह प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (२) छह प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (३) चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (४) चार प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। यहाँ इतनी विशेषता है कि स्त्यानर्द्धि तीनका उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अतः इस गुणस्थान तक निद्रादि पाँचमें से किसी एकका उदय और अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें निद्रा और प्रचला इन दोमें से किसी एकका उदय कहना चाहिये। किन्तु क्षपकश्रेणीमें कुछ विशेषता है। बात यह है कि क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध होता है, अतः उसके निद्रा और प्रचला प्रकृतिका उदय नहीं होता और यही कारण है कि क्षपकश्रेणी में पूर्वोक्त चार भंग न प्राप्त होकर पहला और तीसरा ये दो भङ्ग ही प्राप्त होते हैं। इनमेसे छह प्रकृतिक बन्ध चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह पहला भंग क्षपक जीवों के भी अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक होता है। तथा चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह भंग क्षपक जीवो के अनिवृत्ति बादरसम्परायके संख्यात भागों तक होता है। यहाँ स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय हो जानेसे क्षपक जीवोंके आगे नौ प्रकृतियों का सत्त्व नहीं रहता अतः इन क्षपक जीवोंके अनिवृत्तिबादरसम्परायके संख्यात भागोंसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय

गुणस्थानके अन्तिम समय तक चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग और होता है जो उपर्युक्त चार भंगोंसे पृथक् है। इस प्रकार दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियोंका यथासम्भव बन्ध रहते हुए कहाँ कितने भंग सम्भव हैं इसका विचार किया।

अब उदय और सत्ताकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके जहाँ जितने भंग सम्भव हैं इसका विचार करते हैं। बात यह है कि उपशान्तमोह गुणस्थानमें दर्शनावरणकी सभी उत्तर प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और उदय विकल्पसे चार या पाँच का पाया जाता है, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व या (२) पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। किन्तु क्षीणमोह गुणस्थानमें स्त्यानर्द्धित्रिकका अभाव है, क्योंकि इनका क्षय क्षपक अनिवृत्तिकरणमें हो जाता है। दूसरे इसके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला का भी क्षय हो जाता है जिससे अन्तिम समयमें चार प्रकृतियोंका ही सत्त्व रहता है। तथा क्षपकश्रेणीमें निद्रादिकका उदय नहीं होता इसका उल्लेख पहले ही कर आये हैं, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक और दूसरा भंग क्षीणमोहके अन्तिम समयमें होता है।

अब सरलता से ज्ञान होनेके लिये इन सब भंगोंका कोष्ठक देते हैं—

[८]

अनु०	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुणस्थान
१	९ प्र०	४ प्र०	९ प्र०	१, २
२	९ प्र०	५ प्र०	९ प्र०	१, २
३	६ प्र०	४ प्र०	९ प्र०	३, ४, ५, ६, ७, ८
४	६ प्र०	५ प्र०	९ प्र०	३, ४, ५, ६, ७, ८
५	४ प्र०	४ प्र०	९ प्र०	८, ९, १० दोनों श्रेणियों में
६	४ प्र०	५ प्र०	९ प्र०	८, ९, १० उप० श्रे०
७	४ प्र०	४ प्र०	६ प्र०	९, १० क्षप० श्रे०
८	०	४ प्र०	९ प्र०	उपशान्तमोह
९	०	५ प्र०	९ प्र०	उपशान्तमोह
१०	०	४ प्र	६ प्र	क्षीणमोह उपान्त्य समयतक
११	०	४ प्र०	४ प्र०	क्षीणमोह अन्तिम समयमें

सूचना—पाँचवाँ भंग जो दोनों श्रेणियों में बतलाया है सो क्षपकश्रेणीमें इसे ९ वें गुणस्थानके संख्यात भागों तक ही जानना चाहिये। इसके आगे क्षपकश्रेणीमें सातवाँ भंग प्रारम्भ हो जाता है।

यहाँ दर्शनावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके जो ग्यारह संवेध भंग बतलाये गये हैं उनमें (१) चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व (२) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये तीन भंग भी सम्मिलित हैं। इनमें से पहला भंग क्षपकश्रेणीके नौवें और दसवें गुणस्थानमें होता है और दूसरा तथा तीसरा भंग क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। इससे मालूम पड़ता है कि इस ग्रन्थके कर्ता का यही एक मत रहा है कि क्षपकश्रेणीमें निद्रा और प्रचला प्रकृतिका उदय नहीं होता। मलयगिरि आचार्यने सत्कर्म ग्रन्थका एक गाथांश उद्धृत किया है। उसका भी यही भाव है कि 'क्षपकश्रेणी में और क्षीणमोह गुणस्थान में निद्राद्विकका उदय नहीं होता।' कर्मप्रकृतिकार तथा पञ्चसंग्रहके कर्ताका भी यही मत है किन्तु पञ्चसंग्रह के कर्ता 'क्षपकश्रेणीमें और क्षीणमोह गुणस्थान में पाँच प्रकृतिका भी उदय होता है' इस दूसरे मतसे परिचित अवश्य थे। जिसका उल्लेख उन्होंने 'पंचण्ह वि केइ इच्छंति' इस रूपसे किया है। मलयगिरि आचार्यने इसे कर्मस्तवकारका मत बतलाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस परम्परामें कर्मस्तवकारके सिवा प्रायः सब कार्मिकोंका यही एक मत रहा है कि क्षपक श्रेणी में और क्षीणमोह गुणस्थानमें निद्राद्विकका उदय नहीं होता। किन्तु दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र विकल्प वाला मत पाया जाता है। कसायपाहुडकी चूर्णिमें यतिवृषभ

(१) 'निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज।'—मल० सप्तति० टी० पृ० १४८। (२) निद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज॥'—कर्मप्र० उ० गा० १०। (३) देखो ३२ पृष्ठ की टिप्पणी। (४) कर्मस्तवकार मतेन पञ्चानामप्युदयो भवति।'—पञ्च सं० सप्तति० टी० गा० १४।

सास्वादन और अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि नारकियोंके उक्त तीन गुणस्थानोंमें मनुष्यायुका बन्ध पाया जाता है। तथा उपरत बन्धकालम (१) नरकायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (२) नरकायुका उदय और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व ये दो भङ्ग होते हैं। नारकियोंके ये दोनों भग प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें सम्भव हैं, क्योंकि तिर्यंचायुके बन्ध कालके पश्चात् नारकी जीव अविरतसम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो सकता है, इसलिये तो पहला भग प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें सम्भव है। तथा अविरत सम्यग्दृष्टि नारकी जीवके भी मनुष्यायुका बन्ध होता है और बन्ध कालके पश्चात् ऐसा जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है इसलिये दूसरा भग भी प्रारम्भके चार गुणस्थानों में सम्भव है। इस प्रकार नरकगतिम आयुके अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्ध की अपेक्षा कुल पाच भग होते हैं। यहा इतना विशेष है कि नारकी जीव स्वभावसे ही नरकायु और देवायुका बन्ध नहीं करते हैं, क्योंकि नारकी जीव मरकर नरक और देव पर्यायमें उत्पन्न नहीं होते हैं। ऐसा नियम है। कहा भी है—

'देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जति ॥'

अर्थात् देव और नारकी जीव देवों और नारकियों इन दोनोंमें नहीं उत्पन्न होते हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार तिर्यंचगति और मनुष्यगतिके जीव मरकर चारों गतियोंम उत्पन्न

होते हैं उस प्रकार देव और नारकी जीव मरकर केवल तिर्यंच और मनुष्यगतिमें ही उत्पन्न होते हैं शेष में नहीं।

नरकगतिमें आयुकर्मकी उक्त विशेषताओंका कोष्ठक—

[१०]

क्रम न०	काल	बंध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	अबन्धकाल	०	न०	न०	१, २, ३, ४
२	बन्धकाल	ति०	न०	न० ति०	१, २
३	बन्धकाल	म०	न०	न० म०	१, २, ४
४	उप० बन्धकाल	०	न०	न० ति०	१, २, ३, ४
५	उप० बन्धकाल	०	न०	न० म०	१, २, ३, ४

अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा नरकगति में जिस प्रकार पाच भंग बतलाये हैं उसी प्रकार देवगतिमें भी जानना चाहिये। किन्तु नरकायुके स्थानमें सर्वत्र देवायु कहना चाहिये। यथा—देवायुका उदय देवायुका सत्त्व इत्यादि।

देवगतिमें आयुकर्मकी उक्त विशेषताओंका कोष्ठक—

[११]

क्रम	काल	बन्ध	उदयस्था०	सत्वस्था०	गुणस्थान
१	अबन्धकाल	०	दे०	दे०	१, २, ३, ४
२	बन्धकाल	ति	दे०	दे० ति०	१, २
३	बन्धकाल	म०	दे०	दे० म०	१, २, ४
४	उप० बन्धका०	०	दे०	दे० ति०	१, २, ३, ४
५	उप० बन्धका०	०	दे०	दे० म०	१, २, ३, ४

तिर्यंच गतिमें अबन्धकालमें तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंचायुका सत्त्व यह एक भंग होता है जो प्रारम्भके पाच गुणस्थानोंमें पाया जाता है, क्योंकि तिर्यंचगतिमें शेष गुणस्थान नहीं होते। बन्धकालमें (१) नरकायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और नरक तिर्यंचायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच तिर्यंचायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका बन्ध,

तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (४) देवायुका बन्ध, तिर्यंचायुका उदय और देव-तिर्यंचायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। इनमें से पहला भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र नरकायुका बन्ध नहीं होता। दूसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भंग भी मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि तिर्यंच जीव मनुष्यायुका बन्ध मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें ही करते हैं, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थानमें नहीं। तथा चौथा भंग सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर देशविरत गुणस्थान तक चार गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आयु कर्मका बन्ध ही नहीं होता। तथा उपरतबन्धकालमें (१) तिर्यंचायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच तिर्यंचायुका सत्त्व (३) तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (४) तिर्यंचायुका उदय और देव तिर्यंचायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। ये चारों भंग आरम्भके पाँच गुणस्थानोंमें होते हैं, क्योंकि जिस तिर्यंचने नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है उसके द्वितीयादि गुणस्थानोंका पाया जाना सम्भव है। इस प्रकार तिर्यंचगतिमें अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा आयुके कुल नौ भंग होते हैं।

तिर्यंचगतिमें आयुकर्मकी उक्त विशेषताओंका कोष्ठक—

[१७]

क्रम नं०	काल	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	अ० का०	०	ति०	ति०	१, २, ३, ४, ५,
२	बन्धकाल	न०	ति०	न० ति०	१
३	बन्धकाल	ति०	ति०	ति० ति०	१, २,
४	बन्धकाल	म०	ति०	म० ति०	१, २
५	बन्धकाल	दे०	ति०	दे० ति०	१, २ ४, ५,
६	उ० ब० का०	०	ति०	ति० न०	१, २, ३ ४ ५
७	उ० ब० का०	०	ति०	ति० ति०	१, २, ३ ४ ५
८	उ० ब० काल	०	ति०	ति० म०	१, २, ३ ४, ५
९	उ० ब० काल	०	ति०	ति० दे०	१, २ ३, ४, ५

तथा मनुष्यगतिमें अबन्धकालमें मनुष्यायुका उदय और मनुष्यायुका सत्त्व यह एक ही भंग होता है जो चौदहों गुणस्थानों में सम्भव है, क्योंकि मनुष्योंके यथासम्भव चौदहों गुणस्थान होते हैं। बन्धकालमें (१) नरकायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय

और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और तिर्यंच-मनुष्यायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और मनुष्य-मनुष्यायुका सत्त्व तथा (४) देवायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और देव-मनुष्यायुका सत्त्व ये चार भग होते हैं। इनमें से पहला भग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोडकर अन्यत्र नरकायुका बन्ध सम्भव नहीं। दूसरा भग मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमे होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भग भी मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें ही पाया जाता है, क्योंकि मनुष्य जीव तिर्यंचायुके समान मनुष्यायुका बन्ध भी दूसरे गुणस्थान तक ही करते हैं। तथा चौथा भग सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोडकर अप्रमत्तसयत तक छह गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि मनुष्य गतिमें देवायुका बन्ध अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक पाया जाता है। तथा उपरतबन्धकालमें (१) मनुष्यायुका उदय और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व (२) मनुष्यायुका उदय और तिर्यंच-मनुष्यायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका उदय और मनुष्य-मनुष्यायुका सत्त्व तथा (४) मनुष्यायुका उदय और देव-मनुष्यायुका सत्त्व ये चार भग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके तीन भग अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक पाये जाते हैं, क्योंकि जिस मनुष्य ने नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायुका अपने योग्य स्थानमें बन्ध कर लिया है वह बन्ध करने के पश्चात् सयमको प्राप्त करके अप्रमत्तसयत भी हो सकता

९. मोहनीय कर्म

अब पूर्व सूचनानुसार मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों का कथन करते हैं—

> बावीस एक्कवीसा सत्तरसा तेरसेव नव पंच।
> चउ तिग दुग च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक, इक्कीस प्रकृतिक, सत्रह प्रकृतिक, तेरह प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक, पांच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार मोहनीय कर्मके कुल दस बन्धस्थान हैं ॥

विशेषार्थ—मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां अट्ठाईस हैं। इनमेंसे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनोंका बन्ध नहीं होता अतः बन्धयोग्य कुल छब्बीस प्रकृतियां रहती हैं। इनमें भी तीन वेदोंका एक साथ बंध नहीं होता, किन्तु एक कालमें एक वेदका ही बन्ध होता है। तथा हास्य-रतियुगल और अरति शोकयुगल ये दोनों युगल भी एक साथ बन्धको नहीं प्राप्त होते किन्तु एक काल में किसी एक युगलका ही बन्ध होता है। इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंमें से दो वेद और किसी एक युगलके कम हो जाने पर बाईस प्रकृतियां शेष रहती हैं जिनका बन्ध मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें

---

(1) दुगइगवीसा सत्तर तेरस नव पच चउर ति दु एगो। बधो इगि दुग चउत्थय पणउणवमेसु मोहस्स ॥'–पंच स० सप्तति० गा० १६। 'बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पच। चदुतियदुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥'–गो० कर्म० गा० ४६३। 'मोहणीयस्स कम्मस्स दस ट्ठाणाणि बावीसाए एक्कवीसाए सत्तारसण्हं तेरसण्हं णवण्हं पंचण्हं चदुण्हं तिण्हं दोण्हं एक्किस्से ट्ठाणं चेदि।–जी० चू० ट्ठा० सू० २०।

सम्मिलित है अतः अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें इसका निषेध किया। तथा सातवां भंग अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है, क्योंकि केवल उच्चगोत्रका उदय और उच्चगोत्रका सत्त्व अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार गोत्रकर्मकी अपेक्षा कुल संवेधभंग सात होते हैं।

गोत्रकर्मके संवेधभंगों का ज्ञापक कोष्ठक—

[१४]

भंग	बंध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	नी०	नी०	नी०	१
२	नी०	नी०	नी० उ०	१, २
३	नी०	उ०	नी० उ०	१, २
४	उ०	नी०	नी० उ०	१, २, ३, ४, ५
५	उ०	उ०	नी० उ०	१ से १० तक
६	०	उ०	नी० उ०	११, १२, १३ व १४ उ० स०
७	०	उ०	उ०	१४ का अन्तिम समय

(१) गोदे सत्तेव होंति भंगा हु। —गो० कर्म० गा० ६४१।

होता तो भी उसकी पूर्ति पुरुष वेदसे हो जाती है। अत यहाँ सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान बन जाता है। इस स्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर है। यहाँ तेतीस सागर तो अनुत्तर देवके प्राप्त होते हैं। फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्य पर्यायमें जब तक वह विरतिको नहीं प्राप्त होता है, उतना तेतीस सागरसे अधिक काल लिया गया है। अप्रत्याख्यानावरण चतुष्कका बन्ध चौथे गुणस्थान तक ही होता है, अत पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियोंमें से चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर देशविरत गुणस्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। देशविरत गुणस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण होनेसे तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान का काल भी उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका बन्ध पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है, अत पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियोंम से उक्त चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर प्रमत्तसयत गुणस्थानमें

---

१ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परपराओंमें अविरत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर बतलाया है। किन्तु साधिकसे कितना काल लिया गया है इसका स्पष्ट निर्देश श्वेताम्बर टीका ग्रन्थोंमें देखनेम नहीं आया। वहां इतना ही लिखा है कि अनुत्तरसे च्युत हुआ जीव जितने कालतक विरतिको नहीं प्राप्त होता उतना काल यहाँ साधिकसे लिया गया है। किन्तु दिगम्बर पराम्परामें यहाँ साधिक से कितना काल लिया गया है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। धवला टीकामें बतलाया है कि ऐसा जीव अनुत्तर से च्युत होकर मनुष्य पर्यायमें अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटिवर्षतक विरतिके बिना रह सकता है। अत इस हिसाबसे अविरतसम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटिवर्ष अधिक तेतीस सागर प्राप्त होता है।

नौ प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। यद्यपि अरति और शोक का बन्ध छठे गुणस्थान तक ही होता है तो भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें इनकी पूर्ति हास्य और रतिसे हो जाती है, अतः सातवें और आठवें गुणस्थानमें भी नौ प्रकृतिक बन्धस्थान बन जाता है। इस बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है। यद्यपि छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है फिर भी परिवर्तन क्रमसे छठे और सातवें गुणस्थानमें एक जीव देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण काल तक रह सकता है, अतः नौ प्रकृतिक बन्धस्थान का उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है। हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्ध आठवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अतः पूर्वोक्त नौ प्रकृतियोंमें से इन चार प्रकृतियोंके घटा देने पर अनिवृत्ति बादरसम्पराय गुणस्थानके प्रथम भागमें पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। दूसरे भागमें पुरुष वेदका बन्ध नहीं होता अतः वहाँ चार प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। तीसरे भागमें क्रोधसंज्वलनका बन्ध नहीं होता, अतः वहाँ तीन प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। चौथे भागमें मानसंज्वलनका बन्ध नहीं होता, अतः वहाँ दो प्रकृतिक बन्धस्थान होता है और पाँचवें भागमें मायासंज्वलनका बन्ध नहीं होता अतः वहाँ एक प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इस प्रकार अनिवृत्ति बादरसंपराय गुणस्थानके पाँच भागोंमें पाँच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये पाँच बन्धस्थान होते हैं। इन सभी बन्धस्थानोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि प्रत्येक भागका जघ[illegible] एक समय [illegible] काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके आ[illegible] प्रकृतिक बन्धस्थानका भी ज[illegible] है [illegible]

बन्धका कारणभूत बादर कषाय नहीं पाया जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके कुल बन्धस्थान दस हैं, यह सिद्ध हुआ।

मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक—

[१५]

बन्धस्थान	गुणस्थान	भंग	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
२२ प्र०	१ला	६	अन्तर्मु०	देशोन अपा०
२१ प्र०	२रा	४	एक समय	छह आवलि
१७ प्र०	३रा, ४था	२	अन्तर्मुहू०	साधिक तेतीस सागर
१३ प्र०	५वां	२	,,	देशोन पूर्वकोटि
६ प्र०	६ठा, ७वां, ८वां	२	,	
५ प्र०	९वां, प्रथम भा०	१	एक समय	अन्तर्मु०
४ प्र०	,, दूसरा ,,	१	,,	,
३ प्र०	,, तीसरा ,	१	,,	,,
२ प्र०	,, चौथा ,,	१	,,	,,
१ प्र०	,, पाँचवा ,,	१	,,	,,

करके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भागसे अधिक एकसौ बत्तीस सागर होता है। ऐसा जीव यद्यपि मिथ्यात्वमें न जाकर क्षपकश्रेणी पर भी चढता है और सत्तास्थानोंको प्राप्त करता है पर इससे उक्त उत्कृष्ट काल नहीं प्राप्त होता, अत यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया। इसमें से सम्यक्त्व प्रकृतिकी

---

(१) पञ्चसंग्रह के सप्ततिकासंग्रहकी गाथा ४५ व उसकी टीकामें २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवां भाग अधिक १३२ सागर बतलाया है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें इसका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बतलाया है। इस मत भेदका कारण यह है कि—

श्वेताम्बर परम्परामें २६ प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्वका उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है ऐसी मान्यता है तदनुसार केवल सम्यक्त्वकी उद्वलनाके अन्तिम कालमें जीव उपशमसम्यक्त्वको नहीं प्राप्त कर सकता है। अत यहां २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवा भाग अधिक १३२ सागर ही प्राप्त होता है क्योंकि जो २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। पश्चात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। तत्पश्चात् पुन ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। और अन्तमें जिसने मिथ्यादृष्टि होकर पल्यके असंख्यातवें भाग काल तक सम्यक्त्वकी उद्वलना की। उसके २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका इससे अधिक काल नहीं पाया जाता, क्योंकि इसके बाद वह नियमसे २७ प्रकृतिक सत्तास्थानवाला हो जाता है।

किन्तु दिगम्बर परम्परामें यह मान्यता है कि २६ और २७ प्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टि तो नियमसे उपशम सम्यक्त्वको ही उत्पन्न करता है किन्तु २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला वह जीव भी उपशम सम्यक्त्वको ही

वेदक सम्यक्त्वपूर्वक अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो जाता है तब अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तमुहूर्त प्राप्त होता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर है। यहाँ साधिकसे पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालका ग्रहण किया है। खुलासा इस प्रकार है—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके प्रथम छ्यासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण किया। फिर अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यग्मिथ्यात्वम रहकर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके दूसरी बार छ्यासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण किया। फिर अन्तम मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्व प्रकृतिके सबसे उत्कृष्ट पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण कालके द्वारा सम्यक् प्रकृतिकी उद्वलना

---

(१) वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है इस मान्यताके विषयमें सब दिगम्बर व श्वेताम्बर आचार्य एकमत हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त जयधवला टीकामें एक मतका उल्लेख और किया है। वहाँ बतलाया है कि उपशमसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करते हैं इस विषयमें दो मत हैं। एक मत तो यह है कि उपशम सम्यक्त्वका काल थोड़ा है और अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाका काल बड़ा है इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना नहीं करता है। तथा दूसरा मत यह है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कके विसंयोजना कालसे उपशमसम्यक्त्वका काल बड़ा है इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है। जिन उच्चारणवृत्तियोंके आधारसे जयधवला टीका लिखी गई है उनमें इस दूसरे मतको प्रधानता दी गई है, यह जयधवला टीकाके अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

प्रकृतियोंकी सत्तावाला ही रहता है, अतः सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा। इसमेंसे उद्वलना द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके घटा देने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तात्पर्य यह है कि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका सत्त्व नहीं होता। यह स्थान भी मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। कालकी अपेक्षा इस स्थानके तीन भंग हैं—अनादि अनन्त, अनादि-सान्त और सादि सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि उनके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका आदि और अन्त नहीं पाया जाता। अनादि-सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान आदि रहित है पर जब वह सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है, तब उसके इस स्थानका अन्त देखा जाता है। तथा सादि-सान्त विकल्प सादि मिथ्यादृष्टि जीवके होता है, क्योंकि अट्ठाईस प्रकृ-

---

(१) पंचसंग्रहके सप्ततिका संग्रह की गाथा ४५ की टीकामें लिखा है कि २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव जब सम्यग्मिथ्यात्वकी पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालके द्वारा उद्वलना करके २६ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो जाता है तभी वह मिथ्यात्वका उपशम करके उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। अतः इसके अनुसार २७ प्रकृतिक सत्तास्थानका काल पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण ही प्राप्त होता है। किन्तु जयधवला में २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला भी उपशम सम्यग्दृष्टि हो सकता है ऐसा लिखा है। कषायप्राभृतकी चूर्णिसे भी इसकी पुष्टि होती है। तदनुसार २७ प्रकृतिक सत्तास्थानका जघन्य काल एक समय भी बन जाता है ? क्योंकि २७ प्रकृतिक सत्तास्थान के प्राप्त होनेके दूसरे समयमें ही जिसने उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है उसके २७ प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय तक ही देखा जाता है।

उद्वलना हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके होता है। इसका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वलना हो जाने के पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वलनामें पल्यका असंख्यातवाँ भाग काल लगता है और जब तक सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना होता रहता है तब तक यह जीव सत्ताईस

उत्पन्न करता है जिसके वेदकसम्यक्त्वके योग्य काल समाप्त हो गया है। इसके अनुसार यहाँ २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बन जाता है। यथा—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट उद्वलना काल पल्यके असंख्यातवें भागके व्यतीत होने पर वह २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता पर ऐसा न होकर वह उद्वलनाके अन्तिम समयमें पुन उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर प्रथम छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पुन सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण उद्वलना कालके अन्तिम समयमें उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर दूसरी बार छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और अन्तमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पल्यके असंख्यातवें भाग कालके द्वारा सम्यक्त्वकी उद्वलना करके २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर प्राप्त होता है। कालका यह उल्लेख जयधवला टीकामें मिलता है।

(१) दिगम्बर परम्पराके अनुसार कषायप्राभृत की चूर्णिमें इस स्थानका स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव [illegible] बतलाया है। यथा—'सत्तावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी।

प्रकृतियोंकी सत्तावाला ही रहता है, अत सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा। इसमेंसे उद्वलना द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके घटा देने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तात्पर्य यह है कि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका सत्त्व नहीं होता। यह स्थान भी मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। कालकी अपेक्षा इस स्थानके तीन भंग हैं—अनादि अनन्त, अनादि-सान्त और सादि सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि उनके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका आदि और अन्त नहीं पाया जाता। अनादि-सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान आदि रहित है पर जब वह सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है, तब उसके इस स्थानका अन्त देखा जाता है। तथा सादि सान्त विकल्प सादि मिथ्यादृष्टि जीवके होता है, क्योंकि अट्ठाईस प्रकृ-

---

(१) पञ्चसंग्रहके सप्ततिका संग्रह की गाथा ४५ की टीकामें लिखा है कि २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव जब सम्यग्मिथ्यात्वकी पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालके द्वारा उद्वलना करके २६ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो जाता है तभी वह मिथ्यात्वका उपशम करके उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। अत इसके अनुसार २७ प्रकृतिक सत्तास्थानका काल पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण ही प्राप्त होता है। किन्तु जयधवला में २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला भी उपशम सम्यग्दृष्टि हो सकता है ऐसा लिखा है। कषायप्राभृतकी चूर्णिमें भी इसकी पुष्टि होती है। तदनुसार २७ प्रकृतिक सत्तास्थानका जघन्य काल एक समय भी बन जाता है? क्योंकि २७ प्रकृतिक सत्तास्थान के प्राप्त होनेके दूसरे समयमें ही जिसने उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है उसके २७ प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय तक ही देखा जाता है।

तियोंकी सत्तावाले किस सादि मिथ्यादृष्टि जीवने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है, उसके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका पुन विनाश देखा जाता है। इनमेंसे सादि-सान्त विकल्पकी अपेक्षा छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त करनेके बाद जो त्रिकरणद्वारा अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्वको प्राप्त करके पुन अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो गया है उसके उक्त स्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा उत्कृष्ट काल देशोन अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है, क्योंकि कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपसम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ और मिथ्यात्वमें जाकर उसने पल्यके असख्यातवें भागप्रमाण कालके द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतियोंके सत्त्वको प्राप्त किया। पुन वह शेष अपार्ध पुद्गल परावर्त काल तक मिथ्यादृष्टि ही रहा किन्तु जब ससारमें रहनेका काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहा तब वह पुन सम्यग्दृष्टि हो गया तो इस प्रकार छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असख्यातवाँ भाग कम अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। मोहनीयकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें सादि सान्त २६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय बतलाया है। यथा—

'छब्बीसविहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एगसमओ।'

सम्यक्त्वकी उद्वलनामें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर जो त्रिकरण क्रियाका प्रारम्भ कर देता है और उद्वलना होनेके बाद एक समयका अन्तराल देकर जो उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त [illegible] जाता है उसके २६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना हो जाने पर चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। यह स्थान तीसरे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है वह यदि सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर मिथ्यात्वका क्षय कर देता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेके बाद जो वेदक सम्यग्दृष्टि छयासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा, फिर अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। इसके बाद पुनः छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। यथा—

'चउवीसविहत्ती केवचिरं कालादो? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण बे छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि।

इसका खुलासा करते हुए जयधवला टीकामें लिखा है कि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की। अनन्तर छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। फिर अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि रहा। पुन छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना हो चुकनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग साधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है।

पूरा एक सौ बत्तीस सागर होता है, अत चौबीस प्रकृतिक सत्त्व स्थानका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा। इस चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाले जीवके मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर तेईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुण स्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्त मुहूर्त है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षपणाका जितना काल है वही तेईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल है। इसके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर बाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान भी चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि सम्यक्त्व की क्षपणामें जितना काल लगता है वही बाईस प्रकृतिक सत्त्व स्थानका काल है। इसके सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय हो जाने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह चौथे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर क्षपकश्रेणी पर चढ़कर मध्यकी आठ कषायोंका क्षय होना सम्भव है। तथा इसका उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर है, क्योंकि साधिक तेतीस सागर प्रमाण काल तक जीव

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर बतलाया है। यथा—

'एक्कवीसाए विहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण तेत्तीस सागरोवमाणि सादिरेयाणि।'

जयधवला टीकामें इस उत्कृष्ट कालका खुलासा करते हुए लिखा है कि कोई एक सम्यग्दृष्टि देव या नारकी मरकर एक पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्यों में

इनमें हास्य-रतिरूप एक एक भग ही पाया जाता है। इस स्थानमें से हास्य, रति, भय और जुगुप्साके कम कर देने पर पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ एक ही भग है, क्योंकि इसमें बधनेवाली प्रकृतियोंमें विकल्प नहीं है। इसी प्रकार चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें भी एक एक ही भग होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थानोंके कुल भग ६ + ४ + २ + २ + २ + १ + १ + १ + १ + १ = २१ होते हैं, यह उक्त गाथाका तात्पर्य है।

अब इन बन्धस्थानोंमें से किसमें कितने उदयस्थान होते हैं, यह बतलाते हैं—

दस बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं।
छाई नव सत्तरसे तेरे पचाइ अट्ठेव॥ १५ ॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सातसे लेकर दस तक, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सातसे लेकर नौ तक, सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानमें छह से लेकर नौ तक और तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें पाँचसे लेकर आठ तक प्रकृतियोंका उदय जानना चाहिये।

विशेषार्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक और दस प्रकृतिक ये चार उदय स्थान होते हैं। इनमें से पहले सात प्रकृतिक उदयस्थान को दिखलाते हैं—एक मिथ्यात्व, दूसरा हास्य, तीसरी रति, अथवा हास्य और रतिके स्थानमें अरति और शोक, चौथी तीन वेदोंमेंसे कोई एक वेद, पाँचवीं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिमें से कोई एक, छठी प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिमें से कोई एक और सातवीं सज्वलन क्रोध आदिमें से कोई एक इन सात प्रकृतियोंका उदय बाईस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके नियम

से होता है। यहाँ भंग चौबीस होते हैं। यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारोंका उदय एक साथ नहीं होता, क्योंकि उदयकी अपेक्षा ये चारों परस्पर विरोधिनी प्रकृतियाँ हैं, अतः क्रोधादिकके उदयके रहते हुए मानादिकका उदय नहीं होता। परन्तु क्रोधका उदय रहते हुए उससे नीचे के सब क्रोधों का उदय अवश्य होता है। जैसे, अनन्तानुबन्धी क्रोधका उदय रहते हुए चारों क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोधका उदय रहते हुए तीन क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उदय रहते हुए दो क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है तथा सज्वलन क्रोधका उदय रहते हुए एक ही क्रोधका उदय होता है। इस हिसाब से प्रकृत सात प्रकृतिक उदयस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि तीन क्रोधों का उदय होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण मानके उदय के रहते हुए तीन मानका उदय होता है। अप्रत्याख्यानावरण माया का उदय रहते हुए तीन माया का उदय होता है और अप्रत्याख्यानावरण लोभका उदय रहते हुए तीन लोभका उदय होता है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं तदनुसार ये क्रोध, मान, माया और लोभके चार भंग स्त्री वेदके उदयके साथ होते हैं। और यदि स्त्री वेदके उदयके स्थानमें पुरुष वेदका उदय हुआ तो पुरुषवेदके उदयके साथ होते हैं। इसी प्रकार नपुंसक वेदके उदयके साथ भी ये चार भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये सब मिलकर बारह भंग हुए। जो हास्य और रतिके उदयके साथ भी होते हैं। और यदि हास्य तथा रतिके स्थानमें शोक और अरति का उदय हुआ तो इनके साथ भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार बारह को दोसे गुणित करने पर चौबीस भंग हुए। इन्हीं भंगों को दूसरे प्रकारसे यों भी गिन सकते हैं कि हास्य-रति युगल के साथ स्त्री वेदका एक भंग तथा शोक अरति युगल के साथ स्त्री वेदका

एक भग इस प्रकार स्त्री वेदके साथ दो भग हुए। तथा पुरुषवेद और नपुसकवेदके साथ भी इसी प्रकार दो दो भग होंगे। ये कुल भग छह हुए। जो छहो भग क्रोधके साथ भी होंगे। क्रोधके स्थानमें मानका उदय होने पर मानके साथ भी होंगे। तथा इसी प्रकार माया और लोभके साथ भी होंगे, अत पूर्वोक्त छह भगोंको चारसे गुणित कर देने पर कुल भग चौबीस हुए। यह एक चौबीसी हुई।

इन सात प्रकृतियोके उदय में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी चतुष्कमेंसे कोइ एक कषाय इस प्रकार इन तीन प्रकृतियोंमें से क्रमश एक एक प्रकृतिके उदयके मिलाने पर आठ प्रकृतियोका उदय तीन प्रकारसे प्राप्त होता है और इसीलिये यहाँ भगोंकी तीन चौबीसी प्राप्त होती हैं, क्योंकि सात प्रकृतियोंके उदयमें भयका उदय मिलानेपर आठके उदयके साथ भगोंकी पहली चौबीसी प्राप्त हुई। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें जुगुप्साका उदय मिलाने पर आठके उदयके साथ भगोंकी दूसरी चौबीसी प्राप्त हुइ। इसी प्रकार पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकमें से किसी एक प्रकृतिके उदयके मिलाने पर आठके उदयके साथ भगोंकी तीसरी चौबीसी प्राप्त हुई। इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए भगोंकी तीन चौबीसी प्राप्त हुइ।

शका—जब कि मिथ्यादृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उदय नियमसे होता है तब यहाँ सात प्रकृतिक उदयस्थान में और भय या जुगुप्सामें से किसी एकके उदयसे प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त दो प्रकारके आठ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें उसे अनन्तानुबन्धी के उदयसे रहित क्यों बतलाया ?

समाधान—जो सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी

विसंयोजना करके रह गया। क्षपणाके योग्य सामग्रीके न मिलने से उसने मिथ्यात्व आदिका क्षय नहीं किया। अनन्तर कालान्तर में वह मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अत वहाँ उसने मिथ्यात्वके निमित्त से पुन अनन्तानुबन्धी चतुष्कका बन्ध किया। ऐसे जीवके एक आवलिका प्रमाण कालतक अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होता किन्तु आवलिकाके व्यतीत हो जाने पर नियमसे होता है। अत मिथ्यादृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित स्थान बन जाते हैं। यही सबब है कि सात प्रकृतिक उदयस्थानमें और भय या जुगुप्साके उदयसे प्राप्त होनेवाले आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं बतलाया।

शंका—किसी भी कर्मका उदय अबाधाकालके क्षय होने पर होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अबाधाकाल चार हजार वर्ष है, अत बन्धावलिके बाद ही अनन्तानुबन्धीका उदय कैसे हो सकता है?

समाधान—बात यह है कि बन्धसमयसे ही अनन्तानुबन्धीकी सत्ता हो जाती है और सत्ताके हो जाने पर प्रवर्तमान बन्धम पतद्ग्रहता आ जाती है, और पतद्ग्रहपनेके प्राप्त हो जाने पर शेष समान जातीय प्रकृतिदलिकका संक्रमण होता है जो पतद्ग्रहप्रकृतिरूपसे परिणम जाता है, जिसका संक्रमावलिके बाद उदय होता है, अत आवलिकाके बाद अनन्तानुबन्धी का उदय होने लगता है यह कहना विरोधको नहीं प्राप्त होता है।

इस शंका समाधानका यह तात्पर्य है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क विसंयोजनाप्रकृति है। विसंयोजना वैसे तो है क्षय ही, किन्तु विसंयोजना और क्षय में यह अन्तर है कि विसंयोजना के हो जाने पर कालान्तरमें योग्य सामग्री के मिलने पर विसंयोजित

प्रकृतिकी पुनः सत्ता हो सकती है पर क्षयको प्राप्त हुई प्रकृति की पुनः सत्ता नहीं होती। सत्ता दो प्रकारसे होती है बन्धसे और संक्रमसे। पर बन्ध और संक्रमका अन्योन्य सम्बन्ध है। जिस समय जिसका बन्ध होता है उस समय उसमें अन्य सजातीय प्रकृतिदलिकका संक्रमण होता है। ऐसी प्रकृतिको पतद्ग्रह प्रकृति कहते हैं। जिसका अर्थ आकर पडनेवाले कर्मदलको ग्रहण करने वाली प्रकृति होता है। ऐसा नियम है कि संक्रमसे प्राप्त हुए कर्म दलका संक्रमावलिके बाद उदय होता है, अतः अनन्तानुबन्धीका एक आवलिके बाद उदय मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि नवीन बन्धावलिके बाद अबाधाकालके भीतर भी अपकर्षण हो सकता है और यदि ऐसा प्रकृति उदय प्राप्त हुई तो उस अपकर्षित कर्मदल का उदय समयसे निक्षेप भी हो सकता है, अतः नवीन बंधे हुए कर्मदलका प्रयोग विशेषसे अबाधाकालके भीतर भी उदीरणोदय हो सकता है इसमें कोई बाधा नहीं आती। फिर भी पीछे जो शंका समाधान किया गया है उसमें इसकी विवक्षा नहीं की गई है।

पीछे जो सात प्रकृतिक उदयस्थान कह आये हैं उसमें भय और जुगुप्सा के या भय और अनन्तानुबन्धी के या जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी के मिलाने पर तीन प्रकारसे भी प्रकृतियोंका उदय प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक विकल्पमें पूर्वोक्त क्रमसे भंगा की एक एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदय स्थानमें भी भंगोंकी तीन चौबीसी जानना चाहिये।

तथा उसी सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धीके मिला देने पर दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकारसे भंगोंकी एक चौबीसी होती है। इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानकी एक चौबीसी, आठ प्रकृतिक

उदयस्थानकी तीन चौबीसी, नौ प्रकृतिक उदयस्थानकी तीन चौबीसी ये कुल भंगोंकी आठ चौबीसी प्राप्त हुई जो बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय होती हैं।

इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए सात प्रकृतिक उदयस्थान, आठ प्रकृतिक उदयस्थान और नौ प्रकृतिक उदयस्थान ये तीन उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे सात प्रकृतिक उदयस्थानमें एक जातिकी चार कषाय, तीनों वेदोंमें से कोई एक वेद और दो युगलों मेंसे कोई एक युगल इन सात प्रकृतियोंका उदय नियमसे होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त क्रमसे भंगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इसमें भयके या जुगुप्साके मिला देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक विकल्पमें भंगोंकी एक एक चौबीसी प्राप्त होनेसे आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी दो चौबीसी प्राप्त होती हैं। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें भय और जुगुप्सा के मिला देने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह एक ही प्रकारका है अतः यहाँ भंगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानकी एक चौबीसी, आठ प्रकृतिक उदयस्थानकी दो चौबीसी और नौ प्रकृतिक उदयस्थानकी एक चौबीसी ये कुल भंगोंकी चार चौबीसी प्राप्त हुई जो इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सम्भव हैं।

यह इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीवके ही होता है, और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके श्रेणिगत और अश्रेणिगत ऐसे दो भेद हैं। जो जीव उपशमश्रेणिसे गिरकर सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है वह श्रेणिगत सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। तथा जो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणि पर तो चढा नहीं किन्तु अनन्तानुबन्धीके उदयसे सास्वादनभाव को प्राप्त हो गया वह अश्रेणिगत सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीव कहलाता है। इनमें से अश्रे

श्रेणिगत सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीवकी अपेक्षा ये सात प्रकृतिक आदि तीन उदयस्थान कहे हैं।

किन्तु जो श्रेणिगत सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव है उसके विषय में दो उपदेश पाये जाते हैं। कुछ आचार्योंका कहना है कि जिसके अनन्तानुबन्धीकी सत्ता है ऐसा जीव भी उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है। इन आचार्यों के मतसे अनन्तानुबन्धीकी भी उपशमना होती है। इस मतकी पुष्टि निम्न गाथासे होती है।

'पढमकसायचउक्कं दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता।
अविरतसम्मत्ताओ जाव नियट्टि त्ति नायव्वा॥'[1]

इत्यादि। तथा—

'अणदंसणपुंसिथीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।'[2]

अर्थात्—'पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करता है। उसके बाद दर्शनमोहनीयका उपशम करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेदका उपशम करता है।'

और ऐसा जीव श्रेणिसे गिरकर सास्वादन भावको भी प्राप्त होता है। अतः इसके भी पूर्वोक्त तीन उदयस्थान होते हैं।

किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर दी है ऐसा जीव ही उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है, अनन्तानुबन्धीकी सत्तावाला जीव नहीं। इनके मतसे ऐसा

(१) दिगम्बर परम्परामें अनन्तानुबन्धीकी उपशमनावाले मतका षट्खण्डागम कषायप्राभृत व उनकी टीकाओंमें उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें इस मतका अवश्य उल्लेख किया है। वहाँ उपशमश्रेणिमें २८ २४ और २१ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

अडचउरेक्कावीसं उवसमसेढिम्मि।—गो० क० गा० ५११।

(२) आ० नि० गा० ११६। पं० क० प्र० गा० ६८।

जीव उपशम श्रेणिसे गिर कर सास्वादनभावको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उसके अनन्तानुबन्धीका उदय सम्भव नहीं। और सास्वादनसम्यक्त्वकी प्राप्ति तो अनन्तानुबन्धीके उदयमें होती है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—

---

(१) यद्यपि यहाँ हमने आचार्य मलयगिरिकी टीकाके अनुसार यह बतलाया है कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ता है वह गिरकर सास्वादन गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता है। तथापि कर्मप्रकृतिक आदिके निम्न प्रमाणोंसे ऐसा ज्ञात होता है कि ऐसा जीव भी सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है। यथा—

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें लिखा है—

चरित्तुवसमणा काउकामो जति वेयगसम्मदिट्ठी तो पुव्वं अणंताणुबंधिणो नियमा विसंजोएति। एएण कारणेण विरयाण अणंताणुबंधिविसंजोयणा भण्णति।— कम्मप० चु० उपश० गा० ३०।

अर्थात् जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहनीयकी उपशमना करता है वह नियमसे अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है। और इसी कारणसे विरत जीवोंके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कही गई है।

फिर आगे चलकर उसीके मूलमें लिखा है—

'आसाणं वा वि गच्छेज्जा।'—कम्मप० उपश० गा० ६२।

अर्थात् ऐसा जीव उपशमश्रेणिसे उतरकर सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त होता है।

इन उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि कर्मप्रकृतिके कर्त्ताका यही एक मत रहा है कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना किये बिना उपशमश्रेणि पर आरोहण करना सम्भव नहीं, और वहाँसे उतरनेवाला यह जीव सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यद्यपि पंचसंग्रहके उपशमना प्रकरणसे कर्मप्रकृतिके मतकी ही पुष्टि होती है किन्तु उसके संक्रमप्रकरणसे इसका

'अणंताणुबंधुदयरहियस्स सासणभावो ण संभवइ।'

अर्थात् अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना सास्वादन सम्यक्त्वका प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

शंका—जिस समय कोई एक जीव मिथ्यात्वके अभिमुख तो होता है किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता उस समय इन आचार्योंके मतानुसार उसके अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना भी सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति हो जायगी, यदि ऐसा मान लिया जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—यह मानना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर उसके छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान प्राप्त होते हैं। पर आगममें ऐसा बतलाया नहीं, और वे आचार्य भी ऐसा मानते नहीं। इससे

समर्थन नहीं होता, क्योंकि वहाँ सास्वादन गुणस्थानमें २१ से २५ तक ही संक्रमण बतलाया गया है।

दिगम्बर परम्परामें एक षट्खण्डागमकी और दूसरी कषायप्राभृतकी ये दो परम्पराएँ मुख्य हैं। इनमेंसे षट्खण्डागमकी परम्पराके अनुसार उपशमश्रेणिसे च्युत हुआ जीव सास्वादन गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता है। वीरसेन स्वामीने अपनी धवला टीकामें भगवान् पुष्पदन्त भूतबलिके उपदेश का इसी रूपसे उल्लेख किया है। यथा—

'भूदबलिभयवंतस्सुवएसेण उवसमसेढीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिवज्जदि।'—जीव० चू० पृ० ३३१।

किन्तु कषायप्राभृतकी परम्पराके अनुसार तो जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ा है वह उससे च्युत होकर सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है। तथापि कषायप्राभृतकी चूर्णिमें अनन्तानुबन्धी उपशमना प्रकृति है इसका स्पष्टरूपसे निषेध किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि

सिद्ध है कि अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना सासादनसम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान तीसरे और चौथे गुणस्थानमें होता है। उनमेंसे मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध होते हुए सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान होते हैं। पहले सासादन गुणस्थानमें जो सात प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें से अनन्तानुबन्धीके एक भेदको घटाकर मिश्रमोहनीयके मिला देनेपर मिश्र गुणस्थानमें सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है क्यों कि मिश्र गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीका उदय न होकर मिश्र मोहनीयका उदय होता है, अतः यहाँ अनन्तानुबन्धीका एक भेद घटाया गया है और मिश्रमोहनीय प्रकृति मिलाई गई है। यहाँ भी पहलेके समान भंगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भय या जुगुप्साके

'वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना किये बिना कषायोंको नहीं उपशमाता है।' यह केवल कषायप्राभृतके चूर्णिकारका ही मत नहीं है, किन्तु मूल कषायप्राभृतसे भी इस मतकी पुष्टि होती है। कषायप्राभृतके प्रकृतिस्थान संक्रम अनुयोगद्वारमें जो ३२ गाथाएँ आई हैं उनमेंसे सातवीं गाथामें बतलाया है कि '२२, १९, १५, ११, ७ और २१ इन छह पतद्ग्रहस्थानोंमें २१ प्रकृतियोंका संक्रमण होता है। यहाँ जो इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थानमें इक्कीस प्रकृतियोंका संक्रमण बतलाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कषायप्राभृतकी चूर्णिमें जो यह मत बतलाया है कि जिसने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना की है ऐसा जीव भी सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त हो सकता है सो यह मत कषायप्राभृत मूलसे समर्थित है।

मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी भगारी ने चौबीसी प्राप्त होती हैं। फिर इस सातप्रकृतिक उदयस्थानमें भय और जुगुप्साके मिलाने पर नौ प्रकृतिक उदय स्थान होता है। पूर्वोक्त प्रकारसे यहाँ भी भगारी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भगोरी कुल चार चौबीसी प्राप्त हुईं।

चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध होते हुए छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। पहले मिश्र गुणस्थानमें जो सात प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उनमें से मिश्रमोहनीय के घटा देनेपर चौथे गुणस्थानमें छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है जिसमें भगोंकी एक चौबीसी होती है। इसमें भय, जुगुप्सा या सम्यक्त्वमोहनीय इन तीन प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिलाने पर तीन प्रकार से सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहाँ एक एक भेदमें भगोंकी एक एक चौबीसी होती है अत सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। फिर छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भय और जुगुप्सा अथवा भय और सम्यक्त्व मोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्व मोहनीय इन दो प्रकृतियोंके मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन प्रकार से प्राप्त होता है। यहाँ एक एक भेदमें भङ्गोंकी एक एक चौबीसी होती है, अत आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भङ्गोंकी तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। अनन्तर छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन तीनों प्रकृतियोंके एक साथ मिला देने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती। इस प्रकार चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध

रहते हुए भगोंकी कुल आठ चौबीसी प्राप्त हुईं। जिनमें से चार चौबीसी सम्यक्त्वमोहनीयके उदयके बिना होती हैं और चार चौबीसी सम्यक्त्वमोहनीयके उदय सहित होती हैं जो सम्यक्त्व-मोहनीयके उदयके बिना होती हैं वे उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके जानना चाहिये। और जो सम्यक्त्वमोहनीयके उदयसहित होती हैं वे वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके जानना चाहिये।

तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए पाँच प्रकृतिक, छह प्रकृतिक, सातप्रकृतिक और आठ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थानमें जो छह प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमेंसे अप्रत्याख्यानावरणके एक भेदके घटा देने पर पाँचवें गुणस्थानमें पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है जिसमें भगोंकी एक चौबीसी होती है। इसमें भय, जुगुप्सा या सम्यक्त्वमोहनीय इन तीन प्रकृतियोंमेंसे एक एक प्रकृतिके मिलाने पर छहप्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकारसे होता है। यहाँ एक एक भेदमें भगोंकी एक एक चौबीसी होती है, अत छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भगों की कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। अनन्तर पाँच प्रकृतिक उदय स्थानमें भय और जुगुप्सा, भय और सम्यक्त्वमोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो दो प्रकृतियोंके मिलानेपर सात प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक भेदमें भगोंकी एक एक चौबीसी होती है अत सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। फिर पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन तीनों प्रकृतियोंके मिला देनेपर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह आठ प्रकृतिक उदयस्थान एक ही प्रकारका है, अत यहाँ भगोंकी एक चौबीसी प्राप्त हुई। इस प्रकार पाँचवें गुण-स्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए उदयस्थानोंकी अपेक्षा

यद्यपि यहाँ बन्धस्थान और उदयस्थानोंके परस्पर संवेधका विचार किया जा रहा है अतः गाथामें सत्त्वस्थानके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं थी फिर भी प्रसंगवश यहाँ इसका संकेतमात्र किया है।

अब दससे लेकर एक पर्यन्त उदयस्थानोंमें जितने भंग सम्भव हैं उनके दिखलानेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

> एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
> एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥१८॥

अर्थ—दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें क्रमसे एक, छह, ग्यारह, दस, सात, चार और एक इतने चौबीस विकल्परूप भंग होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें ग्यारह भंग होते हैं॥

विशेषार्थ—पहले दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें जहाँ जितनी भंगोंकी चौबीसी होती हैं यह पृथक् पृथक् बतला आये हैं

---

(१) एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगं चेव। दोसु च बारस भंगा एक्कम्हि य होंति चत्तारि॥ कसाय० (बंधगविहार)। चउवीसा। एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगाओ॥—कर्म प्र० उदी० गा० २४। धव० उदी०, आ० प० १०२२। 'दसगाइसु चउवीसा एक्कछिक्कारदससगचउक्क। एक्का य।'—पंचसं० सप्तति० गा० २७। 'एक्कय छक्केयारं दससगचदुरेक्कयं अपुणरुत्ता। एदे चदुवीसगदा बार दुगे पंच एक्कम्मि॥'—गो० कर्म० गा० ४८८।

(२) सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें इस गाथाका चौथा चरण दो प्रकारसे निर्दिष्ट किया है। स्वमतरूपसे 'बार दुगिक्कम्मि इक्कारा' इस प्रकार और मतान्तररूपसे 'चउवीस दुगिक्कमिक्कारा' इस प्रकार निर्दिष्ट किया है। प्रथम पाठके अनुसार स्वमतसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ भंग

यहाँ अन उनकी समुच्चयरूप संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी एक चौबीसी होती है यह स्पष्ट ही है, क्योंकि वहाँ और प्रकृतिविकल्प सम्भव नहीं। नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल छह चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसकी तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी और चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होताहै उसके भंगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी कुल छह चौबीसी हुई। आठ

प्राप्त होते हैं और दूसरे पाठके अनुसार मतान्तरसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें २४ भंग प्राप्त होते हैं। मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इसी अभिप्राय की पुष्टि की है। यथा—

'द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्। अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः।'

अर्थात् दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस भंग होते हैं। सो यह कथन अन्य आचार्योंके अभिप्रायानुसार किया है। अन्यथा स्वमतसे तो दो प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल बारह भंग ही होते हैं।

इस सप्ततिकाप्रकरणकी गाथा १६ में पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके समय दो प्रकृतिक उदयस्थान और गाथा १७ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानके समय एक प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है। इससे जो स्वमतसे १२ और मतान्तरसे २४ भंगोंका निर्देश किया है उसकी ही पुष्टि होती है। पंचसंग्रह सप्ततिकाप्रकरण और कर्मकाण्डमें भी इन मतभेदोंका निर्देश किया है।

प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल ग्यारह चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल दो चौबीसी मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल दो चौबीसी, चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल तीन चौबीसी और पाँचवें गुणस्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल एक चौबीसी इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल ग्यारह चौबीसी हुई। सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल दस चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी, चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी तीन चौबीसी, तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी तीन चौबीसी और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल दस चौबीसी होती हैं। छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल सात चौबीसी होती हैं। यथा—अविरतसम्यग्दृष्टिके सत्रह प्रकृतिक

बन्धस्थानके समय जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल एक चौबीसी, तेरह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगो की कुल तीन तीन चौबीसी इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी कुल सात चौबीसी हुई। पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमे भंगोंकी कुल चार चौबीसी होती हैं। यथा—तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल एक चौबीसी और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल तीन चौबीसी इस प्रकार पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल चार चौबीसी प्राप्त हुई। तथा नौ प्रकृतिक बन्धके समय चार प्रकृतिक उदयके भंगोंकी एक चौबीसी होती है। इस प्रकार दससे लेकर चार पर्यन्त उदयस्थानोंके भंगोंकी कुल १+६+११+१०+७+४+१=४० चौबीसी होती हैं। तथा पाँच प्रकृतिक बन्धके समय दो प्रकृतिक उदयके भंग बारह होते हैं और चार प्रकृतिक बन्धके समय भी दो प्रकृतिक उदय सम्भव है ऐसा कुछ आचार्योंका मत है अतः इस प्रकार भी दो प्रकृतिक उदयस्थानके बारह भंग प्राप्त हुए। इस प्रकार दो प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी एक चौबीसी होती है। तथा चार, तीन दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें और अबन्धके समय एक प्रकृतिक उदयस्थानके क्रमशः चार, तीन, दो, एक और एक भंग होते हैं जिनका जोड ग्यारह होता है, अतः एक प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग ग्यारह होते हैं। इस प्रकार इस गाथामें मोहनीयके सब उदयस्थानोंमें सब भंगोंकी कुल चौबीसी कितनी और फुटकर भंग कितने होते हैं यह बतलाया है।

अब इन भंगोंकी कुल संख्या कितनी होती है यह बतलाते हैं—

नवपचाणउइसएहुदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा ।

अर्थ—संसारी जीव नौ सौ पचानवे उदय विकल्पोंसे मोहित हैं।

विशेषार्थ—इससे पहलेकी चार गाथाओंमें मोहनीय कर्मके उदयस्थानोंके भंग बतला आये हैं। यहाँ 'उदयविकल्प' पदद्वारा उन्हींका ग्रहण किया है। किन्तु पहले उन उदयस्थानोंके भंगोंकी यहाँ कितनी चौबीसी प्राप्त होती हैं यह बतलाया है। अब यहाँ यह बतलाया है कि उनकी कुल संख्या कितनी होती है। प्रत्येक चौबीसीमें चौबीस भंग हैं और उन चौबीसियोंकी कुल संख्या इकतालीस है अतः इकतालीसको चौबीससे गुणित कर देने पर नौ सौ चौरासी प्राप्त होते हैं। किन्तु इस संख्यामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके भंग सम्मिलित नहीं हैं जो कि ग्यारह हैं। अतः उनके और मिला देने पर कुल संख्या नौ सौ पचानवे होती है। संसारमें दसवें गुणस्थान तकके जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक जीवके इन ९९५ भंगोंमेंसे यथासम्भव किसी न किसी एक भंगका उदय अवश्य है जिससे वे निरन्तर मूर्च्छित हो रहे हैं। यही सबब है कि ग्रन्थकारने सब संसारी जीवोंको इन उदय विकल्पोंसे मोहित कहा है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं यहाँ जीवोंसे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तकके जीव ही लेना चाहिये, क्योंकि मोहनीय कर्मका उदय वहीं तक पाया जाता है। यद्यपि उपशान्तमोही जीवोंका जब स्वस्थानसे पतन होता है तब वे भी इस मोहनीयके चपेटमें आ जाते हैं, किन्तु कमसे कम एक समय के लिये और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तके लिये वे मोहनीयके उदयसे रहित हैं अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया।

(1) चउबन्धगो वि बारस दुगोदया जाण तेहि छूढेहिं। बन्धगभेएणेवं पंचूणसहस्समुदयाणं ॥—पञ्चसं० सप्तति० गा० २९।

बंधस्थान उदयस्थानोंके सवेध भगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[१७]

गुणस्थान	बंधस्थान	भग	उदयस्थान	भग
१ ला	२२	६	७, ८, ९, १०	८ चौबीसी
२ रा	२१	४	७, ८, ९	४ चौबीसी
३ रा	१७	२	७, ८, ९	४ चौबीसी
४ था	१७	२	६, ७, ८, ९	८ ,,
५ वाँ	१३	२	५, ६, ७, ८	८ ,,
६ से ८	९	२	४, ५, ६, ७	८ ,,
९ वाँ	५	१	२	१२ भग
,,	४	१	२	
,,	४	१	१	४ भग
,,	३	१	१	३ भग
,,	२	१	१	२ भग
,,	१	१	१	१ भग
१० वाँ	०	०	१	१ भग

अब पदसंख्या बतलाते हैं—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहि विन्नेया ॥१९॥

अर्थ—तथा ये संसारी जीव उनहत्तर सौ इकहत्तर अर्थात् छह हजार नौ सौ इकहत्तर पदसमुदायोंसे मोहित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि प्रत्येक प्रकृतिको पद और उनके समुदायको पदवृन्द कहा है। इसीका दूसरा नाम प्रकृतिविकल्प भी है। आशय यह है कि उपर्युक्त दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पद हैं और उनके भेदसे जितने भंग होंगे वे सब पदवृन्द या प्रकृतिविकल्प कहलाते हैं। प्रकृतमें इस प्रकार कुल भेद ६९७१ होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसकी दस प्रकृतियाँ हुईं। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह हैं अतः उनकी चौवन प्रकृतियाँ हुईं। आठ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह हैं, अतः उनकी अठासी प्रकृतियाँ हुईं। सात प्रकृतिक उदयस्थान दस हैं, अतः उनकी सत्तर प्रकृतियाँ हुईं। छह प्रकृतिक उदयस्थान सात हैं, अतः उनकी बयालीस प्रकृतियाँ हुईं। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान चार हैं, अतः उनकी बीस प्रकृतियाँ हुईं। चार प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अतः उसकी चार प्रकृतियाँ हुईं। और दो प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसकी दो प्रकृतियाँ हुईं। अनन्तर इन सब प्रकृतियोंको मिलाने पर कुल जोड़ १०+५४+८८+७०+४२+२०+४+२=२९० होता है। इन प्रकृतियोंमेंसे प्रत्येकमें चौबीस चौबीस भंग प्राप्त होते हैं, अतः २९० को २४ से गुणित कर देने पर ६९६० प्राप्त हुए। पर

(१) सप्ततिकाप्रकरण नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें यह गाथा 'नव तेसीयसएहिं' इत्यादि गाथाके बाद दी है।

इस संख्यामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके ग्यारह भंग सम्मिलित नहीं हैं अतः उनके मिला देने पर कुल संख्या ६९७१ प्राप्त होती है। ये सब प्रकृतिविकल्प हुए। दसवें गुणस्थान तकके सब संसारी जीव इतने विकल्पोंसे निरन्तर मोहित हैं यह उक्त गाथाके उत्तरार्धका तात्पर्य है। यहाँ इतना विशेष जानना कि पहले जो मतान्तरसे चार प्रकृतिक बन्धके संक्रमकालके समय दो प्रकृतिक उदयस्थानमें बारह भंग बतलाये हैं उनको सम्मिलित करके ही यह उदयस्थानोंकी संख्या और पदसंख्या कही गई है।

पदसंख्याका ज्ञापक कोष्ठक

[१९]

उदयस्थान		संख्या		प्रकृतियाँ		भंग		कुल
१०	×	१	=	१०	×	२४	=	२४०
९	×	६	=	५४	×	२४	=	१२९६
८	×	११	=	८८	×	२४	=	२११२
७	×	१०	=	७०	×	२४	=	१६८०
६	×	७	=	४२	×	२४	=	१००८
५	×	४	=	२०	×	२४	=	४८०
४	×	१	=	४	×	२४	=	९६
२	×	१	=	२	×	२४	=	४८
१	×	१	=	१	×	११	=	११

कुल ६९७१

अब इन बारह भंगोंको छोड़कर उदयस्थानोंकी संख्या और पदसंख्या बतलाते हैं—

नवतेसीयसएहिं उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
अउणुत्तरिसीयाला पयविंदसएहिं विन्नेया ॥२०॥

अर्थ—संसारी जीव नौसौ तिरासी उदयविकल्पोंसे और उनहत्तरसौ सैंतालीस अर्थात् छह हजार नौसौ सैंतालीस पदसमुदायोंसे मोहित हो रहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

विशेषार्थ—पिछली गाथामें नौसौ पचानवे उदय विकल्प बतला आये हैं उनमेंसे बारह विकल्पोंके घटा देने पर कुल नौसौ तिरासी उदयविकल्प प्राप्त होते हैं। तथा पिछली गाथामें जो छह हजार नौ सौ इकहत्तर पदवृन्द बतलाये हैं उनमेंसे २×१२ = २४ पदवृन्दोंके घटा देनेपर कुल छह हजार नौसौ सैंतालीस पदवृन्द प्राप्त होते हैं। यदि यहाँ जिनके मतसे चार प्रकृतिक बंधके संक्रमके समय दो प्रकृतिक उदयस्थान होता है उनके मतकी प्रधानता न दी जाय और उनके मतसे दो प्रकृतिक उदयस्थानके उदयविकल्प और पदवृन्दोंको छोड़कर ही सब उदयविकल्पों की और पदवृन्दोंकी गणना की जाय तो क्रमशः उनकी संख्या ९८३ और ६९४७ होती है। जिनसे दसवें गुणस्थानतकके सब संसारी जीव मोहित हो रहे हैं।

---

(१) तेसीया नवसया एवं ?—पञ्चसं० सप्तति गा० २५।

(२) इस सप्ततिकाप्रकरणमें मोहनीयके उदयविकल्प दो प्रकारसे बतलाये हैं एक ९९५ और दूसरे ९८३। इनमेंसे ९९५ उदय विकल्पोंमें दो प्रकृतिक उदयस्थानके २४ भंग और ९८३ उदयविकल्पोंमें दो प्रकृतिक उदयस्थानके १२ भंग लिये हैं। पंचसंग्रह सप्ततिकामें भी ये उदयविकल्प बतलाये हैं। किन्तु वहाँ वे तीन प्रकारसे बतलाये हैं। पहला तो वही है

ये दस आदिक जितने उदयस्थान और उनके भंग बतलाये

जिसके अनुसार सप्ततिकाप्रकरणमें ९९५ उदयविकल्प होते हैं। दूसरे प्रकारमें सप्ततिकाप्रकरणके ९८३ वाले प्रकारसे थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। बात यह है कि यहाँ सप्ततिकाप्रकरणमें एक प्रकृतिक उदयके बन्धाबन्धकी अपेक्षा ११ भंग लिये हैं और पंचसंग्रहके सप्ततिकामें उदयकी अपेक्षा प्रकृतिभेदसे कुल ४ भंग लिये हैं इसलिये ९८३ मेंसे ७ घटकर कुल ९७६ उदयविकल्प रह जाते हैं। किन्तु पंचसंग्रहके सप्ततिकामें तीसरे प्रकारसे उदयविकल्प गिनाते हुए गुणस्थानभेदसे उनकी संख्या १२६५ कर दी गई है। विधि सुगम है इसलिये उनका विशेष विवरण नहीं दिया है।

दिगम्बर परम्परामें सबसे पहले कषायपाहुडमें इन उदयविकल्पोंका उल्लेख मिलता है। वहाँ भी पञ्चसंग्रह सप्ततिकाके दूसरे प्रकारके अनुसार ९७६ उदयविकल्प बतलाये हैं। कर्मकाण्डमें भी इनकी संख्या बतलाई है। पर वहाँ इनके दो भेद कर दिये हैं। एक पुनरुक्त भंग और दूसरे अपुनरुक्त भंग। पुनरुक्त भंग १२८३ गिनाये हैं। १२६५ तो वे ही हैं जो पञ्चसंग्रहके सप्ततिकामें गिनाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें चार प्रकृतिकबन्धमें दो प्रकृतिक उदयकी अपेक्षा १२ भंग और लिये हैं। तथा पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयके जो पाँच भंग लिये हैं वे यहाँ ११ कर लिये गये हैं। इस प्रकार पञ्चसंग्रह सप्ततिकासे १८ भंग बढ़कर कर्मकाण्डमें उनकी संख्या १२८३ हो गई है। तथा कर्मकाण्डमें अपुनरुक्त भंग ९७७ गिनाये हैं। सो यहाँ भी एक प्रकृतिक उदयका गुणस्थान भेदसे एक भंग अधिक कर दिया गया है और इस प्रकार ९७६ के स्थानमें ९७७ भंग हो जाते हैं।

यद्यपि यहाँ हमें संख्याओंमें अन्तर दिखाई देता है पर वह विवक्षा भेद ही है मान्यता भेद नहीं।

इसी प्रकार इस सप्ततिका प्रकरणमें मोहनीयके पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये हैं। एक ६९७१ और दूसरे ६९४७। जब चार प्रकृतिक बन्धके समय कुछ काल तक दो प्रकृतिक उदय होता है इस मतको स्वीकार कर

हैं उनका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। चार प्रकृतिक उदयस्थानसे लेकर दस प्रकृतिक उदयस्थान तकके

लिया जाता है तब ६९७१ पदवृन्द प्राप्त होते हैं और जब इस मतको छोड़ दिया जाता है तब ६९४७ पदवृन्द प्राप्त होते हैं। पञ्चसंग्रहके सप्ततिकामें ये दो संख्याएँ तो बतलाई ही हैं किन्तु इनके अतिरिक्त चार प्रकारके पदवृन्द और बतलाये हैं। उनमें से पहला प्रकार ६९४० का है। सो यहाँ बन्धाबन्धके भेदसे एक प्रकृतिक उदयके ११ भंग न लेकर कुल ४ भंग लिये हैं और इस प्रकार ६९४७ मेंसे ७ भंग कम होकर ६९४० संख्या प्राप्त होती है। शेष तीन प्रकारके पदवृन्द गुणस्थानभेदसे बतलाये हैं। जो क्रमसे ८४७७ ८४८९ और ८५०७ प्राप्त होते हैं। इनका व्याख्यान सुगम है इसलिये संकेतमात्र कर दिया है।

दिगम्बर परम्परामें ये पदवृन्द कर्मकाण्डमें बतलाये हैं। वहाँ इनकी प्रकृति विकल्प संज्ञा दी है। कर्मकाण्डमें जैसे उदयविकल्प दो प्रकारसे बतलाये हैं। वैसे प्रकृतिविकल्प भी दो प्रकारसे बतलाये हैं। पुनरुक्त उदयविकल्पोंकी अपेक्षा इनकी संख्या ८५०७ बतलाई है और अपुनरुक्त उदयविकल्पोंकी अपेक्षा इनकी संख्या ६९४१ बतलाई है। पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें गुणस्थान भेदसे जो ८५०७ पदवृन्द बतलाये हैं वे और कर्मकाण्डके पुनरुक्त प्रकृतिविकल्प एक हैं। तथा पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें जो ६९४० पदवृन्द बतलाये हैं उनमें १ भंग और मिला देने पर कर्मकाण्डमें बतलाये गये ६९४१ प्रकृतिविकल्प हो जाते हैं। यहाँ पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ४ भंग लिये गये हैं और कर्मकाण्डमें गुणस्थानभेदसे ५ लिये गये हैं अतएव एक भंग बढ़ गया है।

यहाँ भी यद्यपि संख्याओंमें थोड़ा बहुत अन्तर दिखाई देता है, पर वह विवक्षाभेदसे ही अन्तर है मान्यताभेद से नहीं।

(१) एक्किस्से दोण्हं चदुण्हं पंचण्हं छण्हं सत्तण्हं अट्ठण्हं णवण्हं दसण्हं पयडीणं पवेसगो केवचिरं कालादो होदि? जहण्णेण एयसमओ।

प्रत्येक उदयस्थानमें किसी एक वेद और किसी एक युगलका उदय अवश्य होता है और वेद तथा युगलका एक मुहूर्तके भीतर अवश्य ही परिवर्तन होता है। पंचसंग्रहकी मूल टीकामें भी बतलाया है—

'यतो युग्मेन वेदेन चाऽवश्यमन्तर्मुहूर्तादारत परावर्त्तितव्यम् ।'

'अर्थात् चूँकि एक अन्तर्मुहूर्तके भीतर किसी एक युगलका और किसी एक वेदका अवश्य परिवर्तन होता है अत चार आदि उदयस्थानोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।'

इससे निश्चित होता है कि इन चार प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंका और उनके भंगोंका जो उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त

उक्कस्सेणंतोमुहुत्त। —कषाय० चु० (वेदकाधिकार)। अंतमुहुत्तिय उदया समयादारब्भ भंगा य।—पञ्चम सप्तति० गा० ३३। पंच० उदी० प० गा० १०२२।

(१) षट्खण्डागम सत्प्ररूपणासूत्र १०७ की धवला टीकामें लिखा है कि जैसे कषाय अन्तर्मुहूर्तमें बदल जाती है वैसे वेद अन्तर्मुहूर्तमें नहीं बदलता किन्तु वह जन्मसे लेकर मरण तक एक ही रहता है। यथा—

'कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः, आजन्मन आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात् ।'

प्ररूपणामें जो पुरुषवेद आदिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त आदि और उत्कृष्ट काल साधिक सौ सागर पृथक्त्व आदि बतलाया है इससे भी यही ज्ञात होता है कि पर्याय भर वेद एक ही रहता है।

इस लिये अन्तर्मुहूर्तमें वेद अवश्य बदल जाता है इस नियमको छोड़कर एक प्रकृतिक उदयस्थान आदिका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करते समय उसे अन्य प्रकारसे भी प्राप्त करना चाहिये। यथा—उपशमश्रेणिपर चढ़ते समय या उतरते समय कोई एक जीव एक प्रकृतिक उदयस्थानको एक समय तक प्राप्त हुआ और दूसरे समयमें मर कर वह देव

परस्पर संवेधका बतलाते हुए कहाँ कितने उदयस्थान प्राप्त होते हैं, इसका भी उल्लेख करेंगे।

बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय सत्तास्थान तीन होते हैं—२८, २७ और २६ प्रकृतिक। खुलासा इस प्रकार है—बाईस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है और इसके उदयस्थान चार होते हैं—७, ८, ९ और १० प्रकृतिक। इनमेंसे सात प्रकृतिक उदयस्थानके समय एक अट्ठाईस प्रकृतिक ही सत्तास्थान होता है, क्योंकि सात प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना ही प्राप्त होता है और मिथ्यात्वमें अनन्तानुबन्धीके उदयका अभाव उसी जीवके होता है जिसने पहले सम्यग्दृष्टि रहते हुए अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना की और कालान्तरमें परिणामवशसे मिथ्यात्वमें जाकर जिसने मिथ्यात्वके निमित्तसे पुनः अनन्तानुबन्धीके बन्धका आरम्भ किया उसके एक आवलि प्रमाण कालतक अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं होता है। किन्तु ऐसे जीवके नियमसे अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाती है, अतः यह निश्चित हुआ कि सात प्रकृतिक उदयस्थानमें एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है। आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें उक्त तीनों सत्तास्थान होते हैं, क्योंकि आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारका है—एक तो अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित और दूसरा अनन्तानुबन्धीके उदयसे सहित। इनमेंसे जो अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित आठ प्रकृतिक उदयस्थान है उसमें एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही प्राप्त होता है। इसका खुलासा ऊपर किया ही है। तथा जो अनन्तानुबन्धीके उदयसे युक्त आठ प्रकृतिक उदयस्थान है उसमें उक्त तीनों ही सत्तास्थान बन जाते हैं। जबतक सम्यक्त्वकी उद्वलना नहीं होती तबतक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। सम्यक्त्वकी उद्वलना हो

जानेपर सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना हो जाने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान अनादि मिथ्यादृष्टि के भी होता है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित नौप्रकृतिक उदयस्थानमें तो एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है किन्तु जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धीके उदयसे युक्त है उसमें तीनों सत्तास्थान बन जाते हैं। तथा दस प्रकृतिक उदयस्थान, जिसके अनन्तानुबन्धीका उदय होता है, उसीके होता है, अन्यथा दस प्रकृतिक उदयस्थान ही नहीं बनता, अत इसमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीनों सत्तास्थान प्राप्त हो जाते हैं।

इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान के समय सत्त्वस्थान एक अट्ठाइस प्रकृतिक ही होता है, क्योंकि इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान सासादन सम्यग्दृष्टिके ही होता है और सासादन सम्यक्त्व उपशमसम्यक्त्वसे च्युत हुए जीवके ही होता है किन्तु ऐसे जीवके दर्शनमोहनीयके तीनों भेदोंका सत्त्व अवश्य पाया जाता है क्योंकि यह जीव सम्यग्दर्शन गुणके निमित्तसे मिथ्यात्वके तीन भाग कर देता है जिन्हें क्रमश मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व यह सज्ञा प्राप्त होती है। इसलिये इसके दर्शनमोहनीयके तीन भेदोंका सत्त्व नियमसे पाया जाता है। यहाँ उदयस्थान सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये तीन होते हैं। अत सिद्ध हुआ कि इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय तीन उदय स्थानोंके रहते हुए एक अट्ठाईस प्रकृतिक ही सत्त्वस्थान होता है।

सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान के समय सत्त्वस्थान छह होते हैं–२८, २७, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक। सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें होता है। इनमेंसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके तीन

उदयस्थान होते हैं—७, ८, और ९ प्रकृतिक। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके चार उदयस्थान होते हैं–६, ७, ८ और ९ प्रकृतिक। इनमेंसे छह प्रकृतिक उदयस्थान उपशम सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके ही प्राप्त होता है। इनमेंसे औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवके अट्ठाइस और चौबीस प्रकृतिक ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। अट्ठाइस प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्रथमोपशम सम्यक्त्वके समय होता है। जो जीव अनन्तानुबन्धीकी उपशमना करके उपशमश्रेणी पर चढ़कर गिरा है। उस अविरत सम्यग्दृष्टिके भी अट्ठाइस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा जिसने अनन्तानुबन्धीकी उद्वलना की है उस औपशमिक अविरतसम्यग्दृष्टिके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टिके इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क और तीन दर्शनमोहनीय इन सात प्रकृतियोंके क्षय होने पर ही इसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवके सात प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २७ और २४ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे अट्ठाइस प्रकृतियोंकी सत्तावाला जो जीव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके अट्ठाइस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, किन्तु जिस मिथ्यादृष्टिने सम्यक्त्वकी उद्वलना करके सत्ताइस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना नहीं की वह यदि मिथ्यात्वसे निवृत्त होकर परिणामोंके निमित्तसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है तो उस सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवके सत्ताइस

(१) सम्यग्मिथ्यादृष्टिके २७ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है इस मतका उल्लेख दिगम्बर परम्परामें कहीं देखनेमें नहीं आया। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें वेदककालका निर्देश किया है। उस कालके भीतर कोई भी मिथ्यादृष्टि

प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा सम्यग्दृष्टि रहते हुए जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की है, वह यदि परिणामोंके वशसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाया जाता है। ऐसा जीव चारों गतियोंमें पाया जाता है क्योंकि चारों गतियोंका सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करता है। कर्मप्रकृतिमें कहा है—

'चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संयोजणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया णंतरकरणं उवसमो वा॥'

अर्थात्—'चारों गतिके पर्याप्त जीव तीन करणोंको प्राप्त होकर अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करते हैं किन्तु इनके अनन्तानुबन्धीका अन्तरकरण और उपशम नहीं होता है। विशेषता इतनी है कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें चारों गतिके जीव, देशविरतमें तिर्यंच और मनुष्य जीव तथा सर्वविरतमें केवल मनुष्य जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करते हैं।'

अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेके पश्चात् कितने ही जीव परिणामोंके वशसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी प्राप्त होते हैं इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, परन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके सात प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। इनमें से २८ और २४ तो उपशम

जीव वेदकसम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो सकता है पर यह काल सम्यक्त्वकी उद्वलनाके चालू रहते ही निकल जाता है। अतः वहाँ २७ प्रकृतियोंकी सत्तावालेको न तो वेदक सम्यक्त्वकी प्राप्ति बतलाई है और न सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानकी प्राप्ति बतलाई है।

(१) कर्म प्र० उप० गा० ३१।

सम्यग्दृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उन्हींके होता है जिन जीवोंने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर दी है। २३ और २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान केवल वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही होते हैं, क्योंकि आठ वर्षकी या इससे अधिककी आयुवाला जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपणाके लिये उद्यत होता है उसके अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर २३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। फिर इसीके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह २२ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करते समय जब उसके अन्तिम भागमें रहता है और कदाचित् इसने पहले परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध कर लिया हो तो मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है। कहा भी है—

'पट्ठवगो उ मणूसो निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥'

अर्थात् 'दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ केवल मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियोंमें होती है।'

इससे सिद्ध हुआ कि २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंमें प्राप्त होता है, किन्तु २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही प्राप्त होता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चार और तीन दर्शनमोहनीय इन सातके क्षय होने पर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इसी प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भी सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि जीवोंके क्रमशः पूर्वोक्त तीन और पाँच सत्त्वस्थान होते हैं, तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भी इसी प्रकार जानना चाहिये, किन्तु अविरतोंके नौ प्रकृतिक उदयस्थान वेदकसम्यग्दृष्टियोंके ही होता है और वेदक

सम्यग्दृष्टियोंके २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान ही पाये जाते हैं, अतः यहाँ भी उक्त चार सत्त्वस्थान होते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ७ प्रकृतिक, ८ प्रकृतिक और ९ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान और २८, २७ तथा २४ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टियोंमें उपशमसम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ६, ७ और ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८ और २४ प्रकृतिक दो सत्त्वस्थान होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ६, ७ और ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २१ प्रकृतिक एक सत्त्वस्थान होता है। वेदक सम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ७, ८ और ९ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक चार सत्त्वस्थान होते हैं ऐसा जानना चाहिये। इनके परस्पर संवेधका कथन पहले ही किया है, अतः यहाँ किसके कितने बन्धादि स्थान होते हैं इसका निर्देशमात्र किया है।

तेरह और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए प्रत्येकमें २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। १३ प्रकृतियों का बन्ध देशविरतोंके होता है। देशविरत दो प्रकारके हैं तिर्यंच और मनुष्य। इनमें से जो तिर्यंच देशविरत हैं उनके चारों ही उदयस्थानोंमें २८ और २४ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। सो २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तो उपशम सम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि इन दोनों प्रकारके तिर्यंच देशविरतोंके होता है। उनमें भी जो प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके समय ही देशविरतको प्राप्त कर लेता है, उसी देशविरतके उपशमसम्यक्त्वके रहते हुए २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, क्योंकि अन्तरकरणके काल में विद्यमान कोई भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव देशविरतिको प्राप्त

करता है और कोई मनुष्य सर्वविरतिको भी प्राप्त करता है, ऐसा नियम है। शतक बृहच्चूर्णिमें भी कहा है—

'उवसमसम्माइट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ सासायणो पुण न किमवि लहइ।'

अर्थात् 'अन्तरकरणमें स्थित कोई उपशम सम्यग्दृष्टि जीव देशविरतिको प्राप्त होता है और कोई प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत भावको भी प्राप्त होता है, परन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि जीव इनमें से किसीको भी नहीं प्राप्त होता है। वह केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही जाता है।'

इस प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि जीवको देशविरत गुणस्थानकी प्राप्ति कैसे होती है यह बतलाया, किन्तु वेदक सम्यक्त्वके साथ देशविरतिके होनेमें ऐसी खास अड़चन नहीं है, अतः देशविरत गुणस्थानमें वेदक सम्यग्दृष्टियोंके २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान भी बन जाता है। किन्तु २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उन्हीं तिर्यंचोंके होता है, जिन्होंने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की है और ये जीव वेदक सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, क्योंकि तिर्यंचगतिमें औपशमिक सम्यग्दृष्टि के २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इन दो सत्तास्थानोंके अतिरिक्त तिर्यंच देशविरतके शेष २३ आदि सब सत्तास्थान नहीं होते क्योंकि वे क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करने

(१) जयधवला टीकामें स्वामीका निर्देश करते समय चारों गतियोंके जीवोंको २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका स्वामी बतलाया है। इसके अनुसार प्रत्येक गतिका उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर सकता है। कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणकी गाथा ३१ से भी इसकी पुष्टि होती है। वहाँ चारों गतिके जीवको अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला बतलाया है।

वाले जीवके ही होते हैं, परन्तु तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दर्शनको नहीं उत्पन्न करते हैं। व्रती अवस्थामें इसे तो केवल मनुष्य ही उत्पन्न करते हैं।

शंका—यद्यपि यह ठीक है कि तिर्यंचोंके २३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता तथापि जब मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हुए या उत्पन्न करके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तब तिर्यंचोंके भी २२ और २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाये जाते हैं, अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तिर्यंचोंके २२ आदि सत्त्वस्थान नहीं होते ?

समाधान—यद्यपि यह ठीक है कि क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाला २२ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है किन्तु यह जीव संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न न होकर असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है और इनके देशविरति होती नहीं, और देशविरतिके न होनेसे इनके तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं पाया जाता। परन्तु यहाँ तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें सत्त्वस्थानोंका विचार किया जा रहा है अतः ऊपर जो यह कहा है कि तिर्यंचोंके २२ आदि सत्त्वस्थान नहीं होते सो यह १३ प्रकृतिक बन्धस्थानकी अपेक्षासे ठीक ही कहा है। चूर्णिमें भी कहा है—

'एगवीसा तिरिक्खेसु संजयासंजएसु न संभवइ। कह ? भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा तस्स देसविरई नत्थि।'

अर्थात् 'तिर्यंच संयतासंयतोंके २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता है। हाँ असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है पर उनके देशविरति नहीं होती।'

इस प्रकार तिर्यंचोंकी अपेक्षा विचार किया अब मनुष्योंकी अपेक्षा विचार करते हैं--

जो देशविरत मनुष्य हैं उनके पाँच प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। छह प्रकृतिक और सात प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए प्रत्येकमें २८,२४,२३,२२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा आठ प्रकृतिक उदय स्थानके रहते हुए २८ २४,२३ और २२ ये चार स्थान होते हैं। उदयस्थानगत प्रकृतियोंको ध्यानमें रखनेसे इनके कारणोंका निश्चय सुगमतापूर्वक किया जा सकता है अतः यहाँ अलग अलग विचार न करके किस उदयस्थानमें कितने सत्त्वस्थान होते हैं इसका निर्देशमात्र कर दिया है।

नौ प्रकृतिक बंधस्थान प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंके होता है। इनके उदयस्थान चार होते हैं ४,५,६ और ७ प्रकृतिक। सो चार प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए तो प्रत्येक गुणस्थानमें २८,२४ और २१ ये तीन ही सत्त्वस्थान होते हैं क्योंकि यह उदयस्थान उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टिके ही प्राप्त होता है। पाँच प्रकृतिक और छह प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि ये उदयस्थान तीनों प्रकारके सम्यग्दृष्टि जीवोंके सम्भव हैं। किन्तु सात प्रकृतिक उदयस्थान वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके ही होता है अतः यहाँ २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सम्भव न होकर शेष चार ही होते हैं।

पाँच प्रकृतिक और चार प्रकृतिक बंधस्थानमें छह छह सत्त्वस्थान होते हैं। अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं—पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिमें अनिवृत्तिबादर जीवके पुरुषवेदके बंधकाल तक होता है और पुरुषवेदके बंध समय तक छह नोकषायोंका सत्त्व पाया ही जाता है अतः पाँच प्रकृतिक

बन्धस्थानमें पॉच आदि सत्त्वस्थान नहीं होते यह स्पष्ट ही है। अब रहे शेष सत्त्वस्थान सो उपशमश्रेणिकी अपेक्षा तो यहाँ २८,२४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान पाये जाते हैं, क्योंकि उपशमश्रेणि मे ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं ऐसा आगम है। तथा क्षपकश्रेणिमें इसके २१ १३, १२ और ११ इस प्रकार चार सत्त्वस्थान होते हैं। जिस अनिवृत्तिबादर जीवने आठ कषायोंका क्षय नहीं किया उसके २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। आठ कषायोंके क्षय हो जाने पर तेरह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। फिर नपुसकवेदका क्षय हो जाने पर बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और स्त्रीवेदका क्षय हो जाने पर ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यहाँ इसके आगेके सत्त्वस्थान नहीं हैं इसका कारण पहले ही बतला दिया है। इस प्रकार पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८,२४,२१,१३ १२ और ११ ये छ सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो छह सत्त्वस्थान होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं। यह तो सुनिश्चित है कि चार प्रकृतिक बन्धस्थान भी दोनों श्रेणियोंमें होता है और उपशमश्रेणिमे केवल २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं अत यहाँ उपशमश्रेणिकी अपेक्षा ये तीन सत्त्वस्थान प्राप्त हुए। अब रहा क्षपकश्रेणिकी अपेक्षा विचार सो ऐसा नियम है कि जो जीव नपुसक वेदके उदयके साथ क्षपकश्रेणि पर चढता है वह नपुसकवेद और स्त्रीवेदका क्षय एक साथ करता है और इसके इसी समय पुरुष वेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। तदनन्तर इसके पुरुषवेद और हास्यादि छहका एक साथ क्षय होता है। यदि कोई जीव स्त्रीवेदके उदयके साथ क्षपकश्रेणि पर चढता है तो यह जीव पहले नपुसकवेदका क्षय करता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालमें स्त्री वेदका क्षय करता है। फिर पुरुषवेद और हास्यादि छहका

स्थितिगत दलिकको और दो समय कम दो आवलि प्रमाण समय प्रबद्धको छोड़कर अन्य सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह भी दो समय कम दो आवलि प्रमाण कालके द्वारा क्षयको प्राप्त होगा किन्तु जब तक क्षय नहीं हुआ है तब तक तीन प्रकृतिक बन्धस्थानमें चार प्रकृतिक सत्त्व पाया जाता है। और इसके क्षयको प्राप्त हो जाने पर तीन प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन प्रकृतिक सत्त्व प्राप्त होता है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। इस प्रकार तीन प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१ ४ और ३ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार संज्वलन मानकी प्रथम स्थिति एक आवलि प्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणा इन तीनोंकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है और उस समयके बाद दो प्रकृतिक बन्ध होता है। पर उस समय संज्वलन मानके एक आवलि प्रमाण प्रथम स्थितिगत दलिकको और दो समय कम दो आवलि प्रमाण समयप्रबद्धको छोड़कर अन्य सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह शेष सत्कर्म भी दो समय कम दो आवलि प्रमाण कालके द्वारा क्षयको प्राप्त होगा किन्तु जब तक इसका क्षय नहीं हुआ है तब तक दो प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन प्रकृतिक सत्त्व पाया जाता है। पश्चात् इसके क्षयको प्राप्त हो जाने पर दो प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। इस प्रकार दो प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, ३ और २ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। इसी प्रकार संज्वलन मायाकी प्रथम स्थिति एक आव-

लिप्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणाकी एकसाथ व्युच्छित्ति हो जाती है और उसके बाद एक प्रकृतिक बन्ध होता है परन्तु उस समय संज्वलन मायाके एक आवलिप्रमाण प्रथम स्थिति गत दलिकको और दो समय कम दो आवलिप्रमाण समय प्रबद्धको छोड़कर शेष सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह शेष सत्कर्म भी दो समय कम दो आवलिप्रमाण कालके द्वारा क्षयको प्राप्त होगा किन्तु जब तक इसका क्षय नहीं हुआ है तब तक एक प्रकृतिक बन्धस्थान में दो प्रकृतिक सत्त्व पाया जाता है। पश्चात् इसका नाश हो जाने पर एक प्रकृतिक बन्धस्थान में एक संज्वलन लोभका सत्त्व रहता है। इस प्रकार एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, २ और १ ये पाँच सत्त्व स्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब बन्धके अभाव में चार सत्त्वस्थान होते हैं इसका खुलासा करते हैं। बात यह है कि जो उपशमश्रेणि पर चढ़ कर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके मोहनीयका बन्ध तो नहीं होता किन्तु उसके २८ २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान सम्भव हैं। तथा जो क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके एक सूक्ष्म लोभका ही सत्त्व पाया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि बन्धके अभाव में २८, २४ २१ और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

मोहनीय कर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक—

[[illegible]]

गु०	क०	अंश	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
१	११	१	७	१	१८	७	११७	१८
			८	३	७३	१७	५०६	१७ १०, ३६
			९	३	७१	१७	१८८	१८ १७ ११
			१०	१	१८	३	१३०	१८ १० ११
२	१६	४	७	२	२४	७	११८	१८
			८	४	४७	११	३८४	१८
			९	२	१४	६	३११	१८
३ ४	१०	३	६	२	१४	६	७७	१८, ४७ ६१
			७	४	६६	३८	६७४	१८ ४० १४, ११ ११, ३१
			८	३	११७	८०	८६६	
			६	३	८८	३८	७३६	१८ १० १४ ११ ४१
३	११	१	५	१	२४	३	१५०	१०, २४ ३१
			६	३	७१	३८	७३१	१० १४, ३१ ४०, ३१
			७	३	७१	३१	३०४	८८ १४ ३१, ३१, ४१
			८	३	१४	८	१३३	१८ १४ ४१ ३१
६	८	३	६	१	१८	४	९६	१८ ७४ ९१
७			५	३	७१	१५	३६०	१८ १४ ९१ ४१ ३१
८			६	३	७१	१८	७३१	१८, ४४, ३१ ४० ३१
			७	१	३४	०	११८	१७ १४ ४१, ३१
८	५	१	१	०	११		१७	१७ १४, ३१ ११, ३१
	४	१	१	०	४	०	४	१८ २४ ३१, ३१, ३, ४
९	३	१	१	०	३	०	३	१८ ४४ ३१ ४ ३
०	२	१	१	०	२	०	२	१८ ४४ ३१ ३ २
	१	१	१	०	१	०	१	१८ १४ ३१, १ १
१	०	०	१	०	१	०	१	१८, १४, ३१ १
११	०	०	०	०	०	०	०	२८ १४ ३१
				४०			१४३ [illegible]	१३४० [illegible]

सूचना—जिन आचार्यों का मत है कि चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो और एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उनके मतसे १२ उदयपद और २४ पदवृन्द बढ़कर उनकी संख्या क्रम ९९५ और ६९७१ प्राप्त होती है।

अब इस सब कथन का उपसंहार करके नाम कर्मके कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

दसनवपन्नरसाइं बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं।
भणियाइं मोहणिज्जे इत्तो नाम परं वोच्छं ॥ २३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान क्रमसे दस नौ और पन्द्रह कहे। अब आगे नामकर्म का कथन करते हैं।

विशेषार्थ—इस उपसंहार गाथाका यह अभिप्राय है कि यहाँ तक मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान, नौ उदयस्थान और पन्द्रह सत्त्वस्थानोंका, उनके सम्भव भंगोंका और बंध, उदय तथा सत्त्वस्थानके संवेध भंगोंका कथन किया, अब नाम कर्ममें सम्भव इन सब विशेषताओंका कथन करते हैं।

१० नामकर्म

अब सबसे पहले नाम कर्मके बन्धस्थानोंका कथन करते हैं—

(१) 'दसणवपण्णरसाइं बंधोदयसत्तपयडिठाणाणि। भणिदाणि मोहणिज्जे एत्तो णामं परं वोच्छं ॥'—गो० कर्म० गा० ५१८।

तेवीसं पण्णवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं बंधट्ठाणाणि णामस्स॥ २४॥

अर्थ—नाम कर्मके तेइस प्रकृतिक, पचीस प्रकृतिक, छब्बीस प्रकृतिक अट्ठाइस प्रकृतिक, उनतीस प्रकृतिक, तीस प्रकृतिक, इकतीस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये आठ बन्धस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नाम कर्मके तेइस प्रकृतिक आदि आठ बन्धस्थान होते हैं यह बतलाया है। आगे इन्हीका विस्तारसे विचार किया जाता है—वैसे तो नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं पर उनमेंसे एक साथ कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, इसका विचार इन आठ बन्धस्थानोंमें किया है। उनमें भी कोई तिर्यंचगतिके, कोई मनुष्यगतिके, कोई देवगतिके और कोई नरकगतिके प्रायोग्य बन्धस्थान हैं। और इससे उनके अनेक अवान्तर भेद भी हो जाते हैं अतः आगे इन अवान्तर भेदोंके साथ ही विचार करते हैं—तिर्यंचगतिके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके सामान्यसे २३, २५, २६, २९ और ३ ये पाँच बन्धस्थान होते हैं। उनमें भी एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके २३,

---

(१) 'णामस्स कम्मस्स अट्ठ ट्ठाणाणि एक्कतीसाए तीसाए एगूणतीसाए अट्ठवीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए एक्किस्से ट्ठाणं चेदि।' —जी० चू० ठा० सू० ६०। तेवीसा पणुवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा। तीसेगतीस एगो बंधट्ठाणाइ नामेऽट्ठ॥ —पञ्चसं० सप्तति० गा० ५५। तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं। तीसेक्कतीसमेवं एक्को बंधो दुसेढिम्मि॥' —गो० कर्म० गा० ५२१।

(२) 'तिरिक्खगदिपाओग्गाए पंच ट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए ट्ठाणं चेदि।' —जी० चू० ठा० सू० ६६।

२५ और २६ ये तीन बन्धस्थान होते हैं। उनमेंसे २३ प्रकृतिक बन्धस्थानमें तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघातनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्म और बादर इनमेंसे कोई एक, अपर्याप्त नाम, प्रत्येक और साधारण इनमेंसे कोई एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन तेईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इन तेईस प्रकृतियोंके समुदायको एक तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यके होता है। यहाँ भंग चार प्राप्त होते हैं। यथा—यह ऊपर बतलाया ही है कि बादर और सूक्ष्ममेंसे किसी एकका तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे किसी एकका बन्ध होता है। अब यदि किसीने एक बार बादरके साथ प्रत्येकका और दूसरी बार बादरके साथ साधारणका बन्ध किया। इसी प्रकार किसीने एक बार सूक्ष्मके साथ प्रत्येकका और दूसरी बार सूक्ष्मके साथ साधारणका बन्ध किया तो इस प्रकार तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें चार भंग प्राप्त हो जाते हैं। पचीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, हुण्डसंस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे कोई एक, पर्याप्तक, प्रत्येक और साधारणमेंसे कोई एक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय और निर्माण इन पचीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इन पचीस प्रकृतियोंके समुदायको एक पचीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान पर्याप्तक

एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देवके होता है। यहाँ भङ्ग बीस प्राप्त होते हैं। यथा—जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और प्रत्येकका बन्ध करता है तब उसके स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण आठ भंग प्राप्त होते हैं। तथा जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और साधारणका बन्ध करता है तब उसके यश कीर्तिका बन्ध न होकर केवल अयश कीर्तिका ही बन्ध होता है। कहा भी है—

'नो सुहुमतिगेण जस।'

अर्थात् 'सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्तक इनमेंसे किसी एकका भी बन्ध होते समय यश कीर्तिका बन्ध नहीं होता।'

अतः यहाँ यश कीर्ति और अयश कीर्तिके निमित्तसे तो भंग सम्भव नहीं। अब रहे स्थिर अस्थिर और शुभ अशुभ ये दो युगल सो इनका विकल्पसे बन्ध सम्भव है। अर्थात् स्थिरके साथ भी एकबार शुभका और एकबार अशुभका तथा इसी प्रकार अस्थिरके साथ भी एकबार शुभका और एक बार अशुभका बन्ध सम्भव है, अतः यहाँ कुल चार भंग हुए। इसी प्रकार जब कोई जीव सूक्ष्म और पर्याप्तकका बन्ध करता है तब उसके यश कीर्ति और अयश कीर्ति इनमेंसे तो एक अयश कीर्तिका ही बन्ध होता है, किन्तु प्रत्येक और साधारणमेंसे किसी एकका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका तथा शुभ और अशुभमेंसे किसी [illegible] होनेके कारण आठ भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार [illegible] प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भंग बीस होते हैं। तथा [illegible] प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, [illegible], औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्ड-

संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, स्थावर, आतप और उद्योतमेंसे कोई एक, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन छब्बीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अत इन छब्बीस प्रकृतियोंके समुदायको एक छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान पर्याप्तक और बादर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके साथ बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देवके होता है। यहाँ भग सोलह होते हैं। जो आतप और उद्योतमेंसे किसी एकका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमें से किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण प्राप्त होते हैं। आतप और उद्योतके साथ सूक्ष्म और साधारणका बन्ध नहीं होता, अत यहाँ सूक्ष्म और साधारणके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भग नहीं कहे। इस प्रकार एकेन्द्रिय प्रायोग्य २३ २५ और २६ इन तीन बन्धस्थानोंके कुल भग ४ + २० + १६ = ४० होते हैं। कहा भी है—

'चत्तारि वीस सोलस भगा एगिंदियाण चत्ताला।'

अर्थात् एकेन्द्रिय सम्बन्धी २३ प्रकृतिक बन्धस्थानके चार, २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके बीस और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानके सोलह इस प्रकार कुल चालीस भग होते हैं।'

द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले जीवके २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे पचीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, सेवार्त सहनन, औदारिक आगोपाग, वर्णादिचार, अगुरुलघु, उपघात,

त्रस, बादर, अपर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण इन पचीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अत इनका समुदाय रूप एक पचीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। इस स्थानको अपर्याप्त द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियों को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच बाँधते हैं। यहाँ अपर्याप्त प्रकृतिके साथ केवल अशुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है शुभ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, अत एक ही भग होता है। इन पचीस प्रकृतियोंमेंसे अपर्याप्तको घटाकर पराघात उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, पर्याप्तक और दुस्वर इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देनेपर उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इसका कथन इस प्रकार करना चाहिये—तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, वर्णादि चार, अगुरुलघु पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक दुस्वर, दुर्भग, अनादेय, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमे ये उनतीस प्रकृतियाँ होती हैं, अत इनका समुदाय रूप एक उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान कह लाता है। यह बन्धस्थान पर्याप्तक द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। यहाँ पर स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ और यश कीर्ति-अयश कीर्ति इन तीन युगलोंमेंसे प्रत्येक प्रकृतिका विकल्पसे बन्ध होता है, अत आठ भग प्राप्त होते हैं। तथा इन उनतीस प्रकृतियोंमें उद्योत प्रकृतिके मिला देनेपर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इस स्थानको भी पर्याप्त दो इन्द्रियके योग्य प्रकृतियोको बाँधनेवाला मिथ्यादृष्टि ही

बाँधता है। यहाँ भी वे ही आठ भंग होते हैं। इस प्रकार कुल भंग सत्रह होते हैं। तीनेन्द्रिय और चौइन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके भी पूर्वोक्त प्रकारसे तीन तीन बन्धस्थान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि तीनेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंमें तीनइन्द्रिय जाति और चौइन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंमें चौइन्द्रियजाति कहनी चाहिये। भंग भी प्रत्येकके सत्रह सत्रह होते हैं। इस प्रकार कुल भंग इक्यावन होते हैं। कहा भी है—

'एगट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्हं पि।'

अर्थात् 'विकलत्रयमेंसे प्रत्येकके योग्य बंधनेवाले, २५, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंके क्रमशः एक, आठ और आठ भंग होते हैं। तथा तीनोंके मिलाकर इक्यावन भंग होते हैं।'

तिर्यंचगति पंचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले जीव के २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमें से पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान तो वही है जो द्वीन्द्रियके योग्य पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान बतला आये हैं। किन्तु यहाँ द्वीन्द्रिय जाति कही है सो उसके स्थान में पंचेन्द्रिय जाति कहनी चाहिये। यहाँ एक भंग होता है। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान में तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छह संस्थानोंमें से कोई एक संस्थान, छह संहननोंमेंसे कोई एक संहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति मेंसे कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमें से कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, सुभग और दुर्भगमें से कोई एक, सुस्वर और दुःस्वरमेंसे कोई एक, आदेय और

अनादेयमसे कोई एक, यश कीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अत इनका समुदाय रूप एक उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। यह बन्धस्थान पर्याप्त तिर्यंच पचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाधने वाले चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। यदि इस बन्ध स्थानका बन्धक सास्वादनसम्यग्दृष्टि होता है तो उसके प्रारम्भके पाच सहननमेंसे किसी एक सहननका और प्रारम्भके पाच सस्था नोंमें से किसी एक सस्थानका बन्ध होता है, क्योंकि हुडसस्थान और सेवार्त सहननको सास्वादनसम्यग्दृष्टि नहीं बाधता है ऐसा नियम है। यथा—

'हुड असपत्त च सासणो ण बधइ।'

अर्थात् 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव हुडसस्थान और असप्राप्त सहननका बन्ध नहीं करता।'

इस उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सामान्यसे छह सहननोंमें से किसी एक सहननका, छह सस्थानोंमेंसे किसी एक सस्थानका प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगतिमेंसे किसी एक विहायोगतिका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका, सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, सुस्वर और दुःस्वरमें से किसी एकका आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होता है अत इन सब सख्याओंको परस्पर गुणित कर देने पर ४६०८ भग प्राप्त होते हैं। यथा—६×६×२×२×२×२×२×२×२ =४६०८। जैसा कि पहले लिख आये हैं कि इस स्थानका बन्धक सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी होता है किन्तु इसके पाच सहनन और पाच सस्थानका ही बन्ध होता है, इसलिये इसके ५×५×२×२ ×२×२×२×२×२=३२०० भग प्राप्त होते हैं। किन्तु इनका

अन्तर्भाव पूर्वोक्त भंगोंमें ही हो जाता है, इसलिये इन्हें अलगसे नहीं गिनाया है। इस बन्धस्थानमें एक उद्योत प्रकृतिके मिला देने पर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। जिस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा विशेषता बतला आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी वही विशेषता समझना चाहिये। अतः यहाँ भी सामान्यसे ४६०८ भंग होते हैं। कहा भी है—

'गुणतीसे तीसे वि य भङ्गा अट्ठाहिया छयालसया।
पर्चिन्दियतिरिजोगे पणुवीसे नवि भङ्गिक्को ॥'

अर्थात् 'पंचेन्द्रिय तिर्यंचके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८, तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८ और पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक भंग होता है।'

इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंचके योग्य तीन बन्धस्थानों के कुल भंग ४६०८+४६०८+१=९२१७ होते हैं। इनमें एकेन्द्रियके योग्य बन्धस्थानों के ४० द्वीन्द्रियके योग्य बन्धस्थानोंके १७, त्रीन्द्रिय के योग्य बन्धस्थानोंके १७ और चौइन्द्रियके योग्य बन्धस्थानोंके १७ भंग मिलाने पर तिर्यंचगति सम्बन्धी बन्धस्थानोंके कुल भङ्ग ९२१७+४०+५१=९३०८ होते हैं।

मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियों को बांधनेवाले जीवके २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान वही है जो अपर्याप्त द्वीन्द्रियके योग्य बंध करनेवाले जीवके कह आये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहां मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और पंचेन्द्रिय जाति ये तीन प्रकृतियां कहनी चाहिये। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान तीन प्रकारका है।

---

(१) 'मणुअगदिणामाए तिण्णि ट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए पणुवीसाए ट्ठाणं चेदि।'—जी० चू० ट्ठा० सू० ८४।

एक मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा होता है। दूसरा सास्वादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा होता है और तीसरा सम्यग्मिथ्यादृष्टि या अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंकी अपेक्षा होता है। इनमें से प्रारम्भके दो पहले के समान जानना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके तिर्यंचप्रायोग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान बतला आये हैं उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। किन्तु यहां भी तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंको निकालकर उनके स्थानमें मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियां मिला देना चाहिये। तीसरे प्रकारके बन्धस्थानमें मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। यहाँ तीनों प्रकारके उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सामान्यसे पूर्वोक्त प्रकारसे ४६०८ भंग होते हैं। यद्यपि गुणस्थान भेदसे यहां भंगोंमें भेद हो जाता है पर गुणस्थानभेदकी विवक्षा न करके यहां ४६०८ भंग कहे गये हैं। तथा इसमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इस बन्धस्थानमें स्थिर और अस्थिर मेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिम से किसी एकका बन्ध होता है। अतः इन सब संख्याओं को परस्पर गुणित करने पर २×२×२=८ भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्यगतिके योग्य २५, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें कुल भंग १+४६०८+८=४६१७ होते हैं। कहा भी है—

'पणुवीसयम्मि एको छायालसया अडुत्तर गुतीसे ।
मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे छायालसया उ सत्तरसा ॥'

अर्थात् 'मनुष्यगतिके योग्य पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक, उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८ और तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ८ भंग होते हैं। ये कुल भंग ४६१७ होते हैं ॥'

देवगतिके योग्य प्रकृतियोंको बांधनेवाले जीवके २८, २९, ३० और ३१ ये चार बन्धस्थान होते हैं। उनमेंसे २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें—देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन अट्ठाईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इनका समुदाय एक बन्धस्थान है। यह बन्धस्थान देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बंध करनेवाले मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत जीवोंके होता है। यहां स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका बंध होता है अतः उक्त संख्याओंका परस्पर गुणा करने पर $२ \times २ \times २ = ८$ भंग प्राप्त होते हैं। इस अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें ही होता है, अतः यह बन्धस्थान अविरतसम्यग्दृष्टि आदि जीवोंके ही बंधता है।

(१) देवगदिणामाए पंच ट्ठाणाणि एकत्तीसाए तीसाए एगुणतीसाए अट्ठावीसाए एक्कस्से ट्ठाणं चेदि ।'—जी० चू० ट्ठा० सू० ६९ ।

यहाँ भी २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान आठ भंग होते हैं। तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर पर्याप्तक, प्रत्येक, शुभ, स्थिर, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण इन तीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अतः इनका समुदायरूप एक स्थान होता है। इस स्थानमें सब शुभ कर्मोंका ही बंध होता है अतः यहाँ एक ही भंग प्राप्त होता है। इस बन्धस्थानमें एक तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ भी एक भंग होता है। इस प्रकार देवगतिके योग्य चार बन्धस्थानोंमें कुल भंग १८ होते हैं। कहा भी है—

'अट्ठट्ठ एक्क एक्कं भंगा अट्ठार देवजोगेसु।'

अर्थात् देवगतिके योग्य २८, २९, ३० और ३१ इन बन्धस्थानोंमें क्रमशः आठ, आठ, एक और एक भंग होते हैं।'

नरक गतिके योग्य प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले जीवके अट्ठाईस प्रकृतिक एक बन्धस्थान होता है। इसमें नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, तैजस

---

(१) 'तत्थ इमं अट्ठावीसाए ट्ठाणं णिरयगदी पंचिंदियजादी वेउव्वियतेजाकम्मइयसरीरं हुंडसंठाणं वेउव्वियसरीरअंगोवंगं वण्णगंधरसफासं णिरयगइपाओग्गाणुपुव्वी अगुरुअलहुअ उवघाद परघाद उस्सास अप्पसत्थविहायगई तस बादर पज्जत्त-पत्तेयसरीर अथिर असुह दुहग दुस्सर अणादेज्ज अजसकित्ति णिमिणणामं। एदासिं अट्ठावीसाए पयडीणमेक्कम्हि चेव ट्ठाणं॥ णिरयगदिं पंचिंदिय पज्जत्तसंजुत्तं बंधमाणस्स तं मिच्छादिट्ठिस्स॥'—जी॰ चू॰ ट्ठा॰ सू॰ ६१–६२।

शरीर, कार्मण शरीर, हुण्डसंस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण इन अट्ठाईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अत इनका समुच्चयरूप एक बन्धस्थान है। यह बन्धस्थान मिथ्यादृष्टिके ही होता है। यहा सब अशुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है अत यहा एक ही भग है।

इन तेईस आदि उपर्युक्त बन्धस्थानोंके अतिरिक्त एक बन्धस्थान और है जो देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद हो जाने पर अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें होता है। इसमें केवल यश कीर्तिका ही बन्ध होता है।

अब किस बन्धस्थानमें कुल कितने भग प्राप्त होते हैं इसका विचार करते हैं—

चउ पणवीसा सोलस नव बाणउईसया य अडयाला।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक बंधविही॥ २५॥

अर्थ—तेईस आदि बन्धस्थानों मे क्रम से चार, पच्चीस, सोलह, नौ, नौ हजार दो सौ अडतालीस, चार हजार छह सौ इकतालीस, एक और एक भग होते हैं॥२५॥

विशेषार्थ—यद्यपि पहले तेईस आदि बन्धस्थानोंका विवेचन करते समय भगों का भी उल्लेख किया है पर उससे प्रत्येक बन्धस्थानके समुच्चयरूप भगोंका बोध नहीं होता, अत प्रत्येक बन्धस्थानके समुच्चयरूप भगोंका बोध करानेके लिये यह गाथा आई है। यद्यपि सामान्यसे तो गाथामें ही बतला दिया है कि

किस बन्धस्थान में कितने भंग होते हैं पर वे किस प्रकार होते हैं इस बातका ज्ञान उतने मात्रसे नहीं होता, अतः आगे इसी बातका विस्तारसे विचार करते हैं—तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें चार भंग होते हैं क्योंकि तेइस प्रकृतिक बन्धस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले जीवके ही होता है अन्यके नहीं और इसके पहले चार भंग बतला आये हैं अतः तेइस प्रकृतिक बन्धस्थानमें वे ही चार भंग जानना चाहिये। पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल पच्चीस भंग होते हैं क्योंकि एकेन्द्रियके योग्य पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके बीस भंग होते हैं। तथा अपर्याप्त दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके एक एक भंग होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त बीस भंगोंमें इन पाँच भङ्गोंके मिलाने पर पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल पच्चीस भङ्ग होते हैं। छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल सोलह भङ्ग होते हैं, क्योंकि यह एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके ही होता है और एकेन्द्रिय प्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें पहले सोलह भङ्ग बतला आये हैं, अतः छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें वे ही सोलह भङ्ग जानना चाहिये। अट्ठाइस प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल नौ भङ्ग होते हैं, क्योंकि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीव के २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके आठ भङ्ग होते हैं और नरक गतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके २८ प्रकृतिक बन्धस्थानका एक भङ्ग

होता है। यह बन्धस्थान इनके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता अत इसके कुल नौ भङ्ग हुए यह सिद्ध हुआ। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके ९२४८ भङ्ग होते हैं, क्योंकि तिर्यंच पचेन्द्रिय के योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके ४६०८ भङ्ग होते हैं। मनुष्य गतिके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके भी ४६०८ भङ्ग होते हैं। और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रियके योग्य और तीर्थंकर सहित देवगतिके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके आठ आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार उक्त भङ्गोंको मिलाने पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भङ्ग ४६०८+४६०८+८+८+८+८=९२४८ होते हैं। ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भङ्ग ४६४१ होते हैं। क्योंकि तिर्यंचगतिके योग्य तीसका बध करनेवालेके ४६०८ भग होते हैं। दोइन्द्रिय,तेइन्द्रिय,चौइन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य तीसका बन्ध करनेवाले जीवोंके आठ आठ भग होते हैं और आहारकके साथ देवगतिके योग्य तीसका बन्ध करनेवालेके एक भग होता है। इस प्रकार उक्त भगोंको मिलानेपर ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भग ४६०८+८+८+८+८+१=४६४१ होते हैं। तथा इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थानका और एक प्रकृतिक बन्धस्थान का एक एक भग होता है यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार इन सब बन्धस्थानोंके कुल भङ्ग १३९४५ होते हैं। यथा—४+२५+१६+९+९२४८+४६४१+१+१=१३९४५। इस प्रकार नामकर्मके बन्धस्थान और उनके कुल भङ्गो का कथन समाप्त हुआ।

नामकर्मके बन्धस्थानोंकी उक्त विशेषताका ज्ञापक
कोष्ठक—

[२१]

बन्धस्थान	भंग	आगामिभवप्रायोग्य	बन्धक
२३ प्र	४	अपर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य	तिर्यंच व मनुष्य
२५ प्र०	२५	ए० २०, द्वी० १, ते० १ च०१ पं०ति०१, मनु०१	तिर्यंच व मनुष्य २५ देव८
२६ प्र०	१६	पर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य	तिर्यंच मनुष्य व देव
२८ प्र०	९	देव गति प्रा० ८ नरकगति प्रा १	पचे० ति० व मनु० ९
२९ प्र०	९२४८	द्वी० ८, ते० ८, च ८, पं० ति० ४६०८ मनु० ४६०८ देव ८	तिर्यंच ९२४०, म० ९२४८ देव ९२१६, ना० ९२१६
३० प्र०	४६४१	द्वी०८ ते०८, च०८, पं० ति०४६०८, म०८ दे०१	ति० ४६३२, म ४६३३ दे०४६१६, ना०४६१६
३१ प्र०	१	देवप्रायोग्य	मनुष्य
१ प्र०	१	अप्रायोग्य	मनुष्य

अब नामकर्मके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

वीसिगवीसा चउवीसगाइ एगाहिया उ इगतीसा।
उदयट्ठाणाणि भवे नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥२६॥

अर्थ—नाम कर्मके २०, २१ प्रकृतिक और २४ प्रकृतिक से लेकर ३१ प्रकृतिक तक ८ तथा नौ प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक ये बारह उदयस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नामकर्मके उदयस्थान गिनाये हैं। आगे इन्हीका विवेचन करते हैं—एकेन्द्रिय जीवके २१, २४, २५, २६ और २७ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। सो यहाँ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णादि चार और निर्माण ये बारह प्रकृतियाँ उदयकी अपेक्षा ध्रुव हैं, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक इनका उदय सबके होता है। अब इनमें तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी स्थावर एकेन्द्रिय जाति, बादर सूक्ष्ममेंसे कोई एक, पर्याप्त और अपर्याप्तमेंसे कोई एक, दुर्भग अनादेय तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिला देने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भवके अपान्तरालमें विद्यमान एकेन्द्रियके होता है। इस उदयस्थानमें पाँच भङ्ग होते हैं। जो इस प्रकार हैं—बादर अपर्याप्तक बादर पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक और सूक्ष्म पर्याप्तक। सो ये चारों भङ्ग अयशःकीर्तिके साथ कहना चाहिये।

(१) 'अडनववीसिगवीसा चउवीसेगहिय जाव इगितीसा। चउगइएसु बारस उदयट्ठाणाइं नामस्स ॥' पञ्च० सप्त० गा० ७३। 'वीसं इगिचउवीसं तत्तो इगितीसओ त्ति एयधियं। उदयट्ठाणा एवं णव अट्ठ य होंति णामस्स ।' —गो० कर्म० गा० ५९२।

तथा बादर पर्याप्तको यशःकीर्तिके साथ कहनेसे एक भङ्ग और प्राप्त होता है। इस प्रकार कुल भङ्ग पाँच हुए। वैसे तो उपर्युक्त २१ प्रकृतियोंमें विकल्प रूप तीन युगल होनेके कारण २×२×२ =८ भङ्ग प्राप्त होने चाहिये थे किन्तु सूक्ष्म और अपर्याप्तकके साथ यशःकीर्ति का उदय नहीं होता अतः यहाँ तीन भंग कम हो गये हैं। यद्यपि भवके अपान्तरालमें पर्याप्तियोंका प्रारम्भ ही नहीं होता, फिर भी पर्याप्तक नाम कर्मका उदय पहले समयसे ही हो जाता है और इसलिये अपान्तरालमें विद्यमान ऐसा जीव लब्धिसे पर्याप्तक ही होता है, क्योंकि उसके आगे पर्याप्तियों की पूर्ति नियमसे होती है। इन इक्कीस प्रकृतियोंमें औदारिक शरीर, हुण्डसंस्थान, उपघात तथा प्रत्येक और साधारण इनमेंसे कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिला देने पर और तिर्यंच गत्यानुपूर्वी इस एक प्रकृतिके निकाल लेने पर शरीरस्थ एकेन्द्रिय जीवके चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ पूर्वोक्त पाँच भङ्गोंका प्रत्येक और साधारणसे गुणा कर देनेपर दस भङ्ग होते हैं। तथा वायुकायिक जीवके वैक्रिय शरीर को करते समय औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रिय शरीरका उदय होता है, अतः इसके वैक्रिय शरीरके साथ भी २४ प्रकृतियोंका उदय कहना चाहिये। परन्तु इसके केवल बादर, पर्याप्त प्रत्येक और अयशःकीर्ति ये प्रकृतियाँ ही कहना चाहिये और इसलिये इसकी अपेक्षा एक भङ्ग हुआ। तैजसकायिक और वायुकायिक जीवके साधारण और यशःकीर्तिका उदय नहीं होता, अतः वायुकायिकके इनकी अपेक्षा भङ्ग नहीं कहे। इस प्रकार चौबीस प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल ग्यारह भङ्ग होते हैं। तदनन्तर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हो जाने के बाद २४ प्रकृतियोंमें पराघात प्रकृतिके मिला देने पर पच्चीस प्रकृतिक उदय स्थान होता है। यहाँ बादरके प्रत्येक और साधारण तथा यशः

कीर्ति और अयश कीर्तिके निमित्तसे चार भङ्ग होते हैं। तथा सूक्ष्मके प्रत्येक और साधारणकी अपेक्षा अयश कीर्तिके साथ दो भङ्ग होते हैं। इस प्रकार छह भङ्ग तो ये हुए। तथा वैक्रिय शरीरको करनेवाला बादर वायुकायिक जीव जब शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हो जाता है तब उसके २४ प्रकृतियोंमें पराघातके मिलाने पर पच्चीस प्रकृतियोंका उदय होता है। इसलिये एक भङ्ग इसका हुआ। इस प्रकार पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थानमें सब मिलकर सात भङ्ग होते हैं। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त २५ प्रकृतियोंमें उच्छ्वासके मिलानेपर छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान छह भङ्ग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जिस जीवके उच्छ्वासका उदय न होकर आतप और उद्योतमेंसे किसी एकका उदय होता है उसके छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहाँ भी छह भङ्ग होते हैं। यथा—आतप और उद्योतका उदय बादरके ही होता है, सूक्ष्मके नहीं। अतः इनमेंसे उद्योतसहित बादरके प्रत्येक और साधारण तथा यश कीर्ति और अयश कीर्ति इनकी अपेक्षा चार भङ्ग हुए। तथा आतप सहित प्रत्येकके यश कीर्ति और अयश कीर्ति इनकी अपेक्षा दो भग हुए। इस प्रकार कुल छह भङ्ग हुए। आतपका उदय बादर पृथ्वीकायिकके ही होता है पर उद्योतका उदय वनस्पतिकायिकके भी होता है। तथा बादर वायुकायिकके वैक्रिय शरीरको करते समय उच्छ्वास पर्याप्तिसे पर्याप्त होनेपर २५ प्रकृतियोंमें उच्छ्वासके मिलानेपर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है अतः एक यह भग हुआ। इतनी विशेषता है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके आतप उद्योत और यश कीर्तिका उदय नहीं होता। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल भग १३ होते हैं। तथा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त जीवके

२६ प्रकृतियोंमें आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिला देनेपर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छह भंग होते हैं। इनका खुलासा आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके साथ छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थानके भंग कह आये हैं। इस प्रकार एकेन्द्रियके पाँचों उदयस्थानोंके कुल भंग ५+११+७+१३+६ =४२ होते हैं। कहा भी है—

'एगिंदियउदएसु पंच य एक्कार सत्त तेरस या।
छक्कं कमसो भंगा बायाला हुंति सव्वे वि॥'

अर्थात् 'एकेन्द्रियके २१, २४, २५, २६ और २७ इन पाँच उदयस्थानोंमें क्रमसे ५, ११, ७, १३ और ६ भंग होते हैं। जिनका कुल योग ४२ होता है।'

द्वीन्द्रिय जीवोंके २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ ये छह उदयस्थान होते हैं। पहले जो बारह ध्रुवोदय प्रकृतियाँ बतला आये हैं उनमें तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिलाने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भवके अपान्तरालमें विग्रहगति जीवके प्राप्त होता है। यहाँ भंग तीन होते हैं, क्योंकि अपर्याप्तकके एक अयशःकीर्तिका ही उदय होता है, अतः एक भंग यह हुआ और पर्याप्तकके यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिके विकल्पसे इन दोनोंका उदय होता है, अतः दो भंग ये हुए। इस प्रकार इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल तीन भंग हुए। इन इक्कीस प्रकृतियोंमें औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंको मिलाकर तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेनेपर शरीरस्थ द्वीन्द्रिय जीवके २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता

है। यहाँ भी पहलेके समान तीन भंग होते हैं। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए दोइन्द्रिय जीवके पूर्वोक्त २६ प्रकृतियोंमें अप्रशस्त विहायोगति और परघात इन दो प्रकृतियोंके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिकी अपेक्षा दो भङ्ग होते हैं। इसके अपर्याप्तकका उदय नहीं होता अत: उसकी अपेक्षा भङ्ग नहीं कहे। तदनन्तर श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिसे पर्याप्त होनेपर पूर्वोक्त २८ प्रकृतियोंमें उच्छ्वास प्रकृतिके मिलानेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिकी अपेक्षा दो भङ्ग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उद्योतका उदय होनेपर उच्छ्वासके बिना २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिकी अपेक्षा दो भङ्ग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल चार भङ्ग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २९ प्रकृतियोंमें सुस्वर और दु:स्वर इन दोमेंसे किसी एकके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ पर सुस्वर और दु:स्वर तथा यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिके विकल्पसे चार भङ्ग होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरका उदय न होकर, यदि उसके स्थानमें उद्योतका उदय हो गया तो भी ३० प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहाँ यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिके विकल्पसे दो ही भङ्ग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल छह भंग हुए। तदनन्तर स्वरसहित ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुस्वर और दुःस्वर तथा यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिके विकल्पसे चार भंग होते हैं। इस प्रकार दोइन्द्रिय जीवोंके छह उदयस्थानोंके कुल ३+३+२+४+६+४=२२ भंग होते हैं।

अथवा, शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासका उदय नहीं होता इसलिये उसके स्थानमें उद्योतके मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी ५७६ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग ११५२ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके सुस्वर और दुःस्वरमेंसे किसी एकके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके ११५२ भंग होते हैं, क्योंकि जो पहले २९ प्रकृतिक स्थानके उच्छ्वास की अपेक्षा ५७६ भंग बतला आये हैं उन्हें स्वरद्विकसे गुणित करने पर ११५२ प्राप्त होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके जो २९ प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें उद्योत के मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके पहलेके समान ५७६ भंग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १७२८ प्राप्त होते हैं। तथा स्वरसहित ३० प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योतके मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके कुल भंग ११५२ होते हैं क्योंकि स्वर प्रकृति सहित ३० प्रकृतिक उदयस्थानके जो ११५२ भंग कहे हैं वे ही यहां प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राकृत तिर्यंचपंचेन्द्रियके छह उदयस्थान और उनके कुल भंग ९+२८९+५७६+११५२ + १७२८+११५२ = ४९०६ होते हैं।

वैक्रियशरीरको करनेवाले इन्हीं तिर्यंचपंचेन्द्रियके २५, २७, २८, २९ और ३० ये पांच उदयस्थान होते हैं। पहले तिर्यंचपंचेन्द्रियके इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें वैक्रियशरीर, वैक्रिय आंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देने पर तथा तिर्यंच गत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और

अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका उदय होनेके कारण २×२×२=८ भंग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान ८ भंग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास के मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके यदि उद्योत का उदय हो तो भी २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतियोंमें सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भंग होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतियोंमें उद्योतके मिलाने पर भी २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इनके भी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ हुए। तदनन्तर सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार वैक्रियशरीरको करनेवाले पचेन्द्रिय तिर्यंचके कुल उदयस्थान पाँच और उनके कुल भंग ८+८+१६+१६+८=५६ होते हैं। इन भंगोंको पहलेके ४९०६ भंगोंमें मिलाने पर सब तिर्यंचोंके कुल उदयस्थानोंके ४९६२ भंग होते हैं।

सामान्य मनुष्योंके २१, २६, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। तिर्यंच पचेन्द्रियोंके इन उदयस्थानोंका जिस प्रकार कथन कर आये हैं उसी प्रकार यहाँ मनुष्योंके भी करना

चाहिये। किन्तु मनुष्योंके तिर्यंचगति और तिर्यंच गत्यानुपूर्वीके स्थानमें मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय कहना चाहिये। तथा २९ और ३० प्रकृतिक उदयस्थान उद्योत रहित कहना चाहिये, क्योंकि वैक्रिय और आहारक संयतोंको छोड़कर शेष मनुष्योंके उद्योतका उदय नहीं होता है। इससे तिर्यंचोंके २९ प्रकृतिक उदयस्थानके जो ११५२ भंग कहे उनके स्थानमें मनुष्योंके कुल ५७६ ही भंग प्राप्त होंगे। इसी प्रकार तिर्यंचोंके ३० प्रकृतिक उदयस्थानके जो १७२८ भंग कहे, उनके स्थानमें मनुष्योंके कुल ११५२ ही भङ्ग प्राप्त होंगे। इस प्रकार प्राकृत मनुष्योंके पूर्वोक्त पाँच उदयस्थानोंके कुल भंग ९ + २८९ + ५७६ + ५७६ + ११५२ = २६०२ होते हैं।

तथा वैक्रिय शरीरको करनेवाले मनुष्योंके २५, २७, २८, २९

---

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्ड में वैक्रिय शरीर व वैक्रिय आंगोपांगका उदय देव और नारकियोंके ही बतलाया है मनुष्यों और तिर्यंचोंके नहीं। इसलिये वहाँ वैक्रिय शरीरकी अपेक्षासे मनुष्योंके २५ आदि उदय स्थान और उनके भंगोंका निर्देश नहीं किया है। इसी कारणसे वहाँ वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंच इन जीवोंके भी वैक्रिय शरीरकी अपेक्षा उदयस्थानों और उनके भंगोंका निर्देश नहीं किया है। पंचसंग्रह आदि अन्य ग्रन्थोंसे भी इसकी पुष्टि होती है। इस सप्ततिका प्रकरणमें यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीवोंके उदयप्रायोग्य नामकर्मकी बन्ध प्रकृतियोंका नामनिर्देश नहीं किया है तथापि आचार्य मलयगिरिकी टीकासे ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ देवगति और नरकगतिकी उदयप्रायोग्य प्रकृतियोंमें ही वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांगका ग्रहण किया गया है। इससे यद्यपि ऐसा ज्ञात होता है कि तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रिय शरीर वैक्रिय आंगोपांगका उदय नहीं होना चाहिये। तथापि कर्म प्रकृतिके उदीरणा प्रकरणकी गाथा ८ से इस बातका समर्थन होता है कि यथासम्भव तिर्यंच और मनुष्योंके भी इन दो प्रकृतियोंका उदय व उदीरणा होती है।

और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। पहले बारह ध्रुवोदय प्रकृतियाँ बतला आये हैं उनमें मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आगोपाग, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग और दुर्भग इनमेसे कोई एक, आदेय और अनादेय इनमेंसे कोई एक तथा यश कीर्ति और अयश कीर्ति इनमेसे कोई एक इन तेरह प्रकृतियोंके मिला देने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है यहाँ सुभग और दुर्भगका, आदेय और अनादेयका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिका विकल्पसे उदय होता है अत आठ भग हुए। इतनी विशेषता है कि वैक्रिय शरीर को करनेवाले देशविरत और सयतोंके प्रशस्त प्रकृतियोका ही उदय होता है। इस प्रकार २५ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल आठ भग हुए। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियों के मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भग होते हैं। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिलानेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भग होते हैं। अथवा उत्तर वैक्रिय शरीरको करनवाले सयतोंके शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त होने पर पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक ही भग है, क्योंकि ऐसे सयतोंके दुर्भग, अनादेय और अयश कीर्ति इन अशुभ प्रकृतियोंका उदय नहीं होता। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भग नौ हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थान मे सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भग होते हैं। अथवा, सयतोंके स्वरके स्थानमें उद्योतके मिलाने

पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका पूर्ववत् एक ही भंग हुआ। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ९ भंग हुए। तथा सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें संयतोंके उद्योतके मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका पूर्ववत् एक ही भंग हुआ। इस प्रकार वैक्रिय शरीरको करनेवाले मनुष्यों के कुल उदयस्थान पाँच और उनके कुल भंग ८+८+९+९+१=३५ होते हैं।

आहारक संयतोंके २५, २७, २८ २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। पहले मनुष्यगतिके उदय योग्य २१ प्रकृतियाँ कह आये हैं। उनमें आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिलाने पर तथा मनुष्य गत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ सब प्रशस्त प्रकृतियोंका ही उदय होता है, क्योंकि आहारक

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा २९७ से ज्ञात होता है कि पाँचवें गुणस्थान तकके जीवों के ही उद्योत प्रकृतिका उदय होता है। तथा इसकी गाथा २८५ से यह भी ज्ञात होता है कि उद्योतका उदय तिर्यंचगतिमें ही होता है। इसीसे कर्मकाण्डमें आहारक संयतोंके २५, २७ २८ और २९ प्रकृतिक चार उदयस्थान बतलाये हैं। इनमें से २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान तो सप्ततिका प्रकरणके अनुसार ही जानना चाहिये। अब रहे शेष २८ और २९ ये दो उदयस्थान सो इनमें से २८ प्रकृतिक उदयस्थान उच्छ्वास प्रकृतिके उदयसे और २९ प्रकृतिक उदयस्थान सुस्वर प्रकृतिके उदयसे होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। अर्थात् २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उच्छ्वास प्रकृतिके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और इस २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें सुस्वर प्रकृतिके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

सयतोंके दुर्भग, दु स्वर और अयश कीर्ति का उदय नहीं होता। अत यहाँ एक ही भग होगा। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भग है। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भग होता है। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भग है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल दो भङ्ग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। अथवा, प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरके स्थानमें उद्योतके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भग है। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल दो भग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरसहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। इस प्रकार आहारक सयतोंके कुल उदयस्थान ५ और उनके कुल भङ्ग १+१+२+२+१ = ७ होते हैं।

केवली जीवोंके २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ ८ और ९ ये दस उदयस्थान होते हैं। पूर्वोक्त १२ ध्रुवोदय प्रकृतियों में मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय और यश कीर्ति इन आठ प्रकृतियोंके मिला देनेपर २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। यह उदयस्थान समुद्घातगत अतीर्थकेवलीके कार्मण काययोगके समय

होता है। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग है। यह उदयस्थान समुद्घातगत तीर्थंकर केवलीके कार्मणकाययोगके समय होता है। तथा पूर्वोक्त २० प्रकृतिक उदयस्थानमें औदारिकशरीर, छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान, औदारिक आंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिला देने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर केवलीके औदारिक मिश्रकाययोगके समय होता है। इसके छह संस्थानोंकी अपेक्षा छह भङ्ग हैं, परन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोंमें भी सम्भव हैं, अतः उनकी पृथक् गणना नहीं की। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह तीर्थंकरकेवलीके औदारिक मिश्रकाययोगके समय होता है। किन्तु इस उदयस्थानमें एक समचतुरस्र संस्थानका ही उदय होता है, अतः इसका एक ही भङ्ग है। तथा पूर्वोक्त २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति इनमेंसे कोई एक तथा सुस्वर और दुःस्वर इनमेंसे कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर सयोगिकेवलीके औदारिक काययोगके समय होता है। यहाँ छह संस्थान, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति तथा सुस्वर और दुःस्वरकी अपेक्षा ६×२×२=२४ भंग होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोंमें भी प्राप्त होते हैं अतः इनकी पृथक् गिनती नहीं की। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह तीर्थंकर सयोगिकेवलीके औदारिक काययोगके समय होता है। तथा तीर्थंकर केवली जब वाग्योगका निरोध करते हैं तब उनके स्वरका उदय नहीं रहता, अतः पूर्वोक्त

३१ प्रकृतियोंमेंसे एक प्रकृतिके निकाल देने पर तीर्थकेवलीके ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा जब उच्छ्वासका निरोध करते हैं तब उच्छ्वास प्रकृतिका उदय नहीं रहता, अतः उच्छ्वासके घटा देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु अतीर्थकरकेवलीके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता, अतः पूर्वोक्त ३० और २९ प्रकृतिक उदयस्थानोंमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर अतीर्थंकर केवलीके वचनयोगका निरोध होने पर २९ प्रकृतिक और उच्छ्वासका निरोध होने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अतीर्थंकर केवलीके इन दोनों उदयस्थानोंमें छह संस्थान और दो विहायोगति इनकी अपेक्षा १२, १२ भङ्ग प्राप्त होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदय स्थानोंमें भी सम्भव हैं, अतः उनकी अलगसे गिनती नहीं की। तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर इन नौ प्रकृतियोंका उदय होता है। अतः इनका समुदाय एक नौ प्रकृतिक उदयस्थान कहलाता है। यह स्थान तीर्थंकर केवलीके होता है, जो अयोगिकेवली गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इस उदय-स्थानमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह भी अयोगिकेवली गुणस्थानमें अतीर्थंकर केवलीके होता है। यहाँ २०, २१, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ इन उदय स्थानोंका एक-एक विशेष भङ्ग प्राप्त होता है इसलिये ८ भङ्ग हुए। इनमेंसे २० प्रकृतिक और ८ प्रकृतिक इन दो उदयस्थानोंके दो भङ्ग अतीर्थंकर केवलीके होते हैं। तथा शेष छह भङ्ग तीर्थंकर केवलीके होते हैं। इस प्रकार सब मनुष्योंके उदयस्थान सम्बन्धी कुल भङ्ग २६०२+३५+७+८=२६५२ होते हैं।

देवोंके २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदयस्थान

होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त १२ ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग और दुर्भगमेंसे कोई एक, आदेय और अनादेयमेंसे कोई एक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिला देनेपर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका उदय होनेसे इनकी अपेक्षा कुल आठ भङ्ग होते हैं। देवोंके जो दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन तीन अशुभ प्रकृतियोंका उदय कहा है सो यह पिशाच आदि देवोंके जानना चाहिये। तदनन्तर इस उदयस्थानमें वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, उपघात, प्रत्येक और समचतुरस्रसंस्थान इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देनेपर और देवगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर शरीरस्थ देवके पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भङ्ग होते हैं। तदनन्तर इस उदयस्थानमें पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देनेपर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी वे ही आठ भङ्ग होते हैं। देवोंके अप्रशस्त विहायोगतिका उदय नहीं होता, अतः यहाँ उसके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भङ्ग नहीं कहे। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी वे ही आठ भङ्ग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् ८ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भङ्ग १६ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदय

स्थानमें सुस्वरके मिला देनेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भंग होते हैं। देवोंके दुःस्वर प्रकृतिका उदय नहीं होता, अतः इसके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भंग यहाँ पर नहीं कहे। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वाससहित २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। देवोंके उद्योतका उदय उत्तर विक्रिया करनेके समय प्राप्त होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भंग होते हैं। इस प्रकार देवोंके छह उदयस्थानोंके कुल भंग ८+८+८+१६+१६+८=६४ होते हैं।

नारकियोंके २१, २५, २७, २८ और २९ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त बारह ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन नौ प्रकृतियोंके मिला देने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सब अप्रशस्त प्रकृतियोंका उदय है, अतः एक भंग हुआ। तदनन्तर शरीरस्थ जीवके वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, हुंडसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देने पर और नरकगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग है। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और अप्रशस्त विहायोगतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक ही भंग है। तदनन्तर प्राणापानपर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिला देने पर २८

जिनका जोड़ ३३ होता है अतः इस उदयस्थानके कुल ३३ भंग कहे। २८ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा ६, प्राकृत तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १६, प्राकृत मनुष्योंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ९, आहारकोंकी अपेक्षा २, देवोंकी अपेक्षा १६ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ १२०२ होता है अतः इस उदयस्थानके कुल भंग १२०२ कहे। २९ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १२, तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ११५२, वैक्रिय तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १६, मनुष्योंकी अपेक्षा ५७६ वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ९, आहारक संयतोंकी अपेक्षा २, तीर्थंकरकी अपेक्षा १, देवोंकी अपेक्षा १६ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ १७८५ होता है, अतः इस उदयस्थानके कुल भंग १७८५ कहे। ३० प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १८, तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १७२८, वैक्रिय तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ८, मनुष्योंकी अपेक्षा ११५२, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा १, आहारक संयतोंकी अपेक्षा १, केवलियोंकी अपेक्षा १ और देवों की अपेक्षा ८ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ २९१७ होता है, अतः इस स्थानके कुल भंग २९१७ कहे। ३१ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १२, तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ११५२ और तीर्थंकरकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ ११६५ होता है, अतः इस उदयस्थानके ११६५ भंग कहे। ९ प्रकृतिक उदयस्थानका तीर्थंकरकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं, अतः इसका १ भंग कहा। तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थानका अतीर्थंकरकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं अतः इसका भी १ भंग कहा। इस प्रकार सब उदयस्थानोंके कुल भंग १+४२+११+३३+६ ०+

३३ + १२०२ + १७८५ + २९१७+११६५+१ + १=७७९१ होते हैं।

नाम र्म के उदयस्थानों की विशेपता का ज्ञापक कोष्ठक—

[२२]

उदय स्थान	भग	स्वामी
२०	१	सामान्य केवली
२१	४२	एके० ५ विक० ९, तिय० ९, मनु० ९ ती० १ देव० ८ नारकी १
२४	११	एकेन्द्रिय
२५	३३	एके० ७, वक्रिय ति० ८, वै० म० ८, आहा १ देव ८ नारकी १
२६	६००	एके० १३ विक० ९, ति० २८९, म० २८९
२७	३३	एके० ६, वै० ति० ८ वै० म० ८, आहा० १ तीर्थ० १, देव ८ नारकी १
२८	१२०२	विक० ६, ति० ५७६, वै० ति० १६, मनु० ५७६ वै० म० ९ आ० २, देव १६, ना० १
२९	१७८५	वि० १२, ति० ११५२ वै० ति० १६, म० ५७६ वै० म० ९, आ० २, देव १६, ना० १, ती० १
३०	२९१७	वि० १८, ति० १७२८, वै० ति० ८, म० ११५२ वै० म० १, आ० १, ती० १, देव ८
३१	११६५	वि० १२, ति० ११५२, तीर्थ० १
९	१	तीर्थंकर
८	१	केवली

अब नामकर्म के सत्तास्थानोंका कथन करते हैं—

निदुनउदं उगुनउइ अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई।
अट्ठयछप्पणत्तरि नव अट्ठ य नामसंताणि ॥२०

अर्थ—नाम कर्म के ९३, ९२ ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५ ९ और ८ प्रकृतिक बारह सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें यह बतलाया है कि नामक कितने सत्त्वस्थान हैं और उनमेंसे किस सत्त्वस्थानमें कितनी तियों का सत्त्व होता है। किन्तु प्रकृतियोंका नाम निर्देश किया है अत आगे इसीका विचार किया जाता है—नाम कर्म उत्तर प्रकृतियाँ ९३ हैं अत ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें प्रकृतियोंका सत्त्व स्वीकार किया गया है। इनमेसे तीर्थंकर

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें ९३ ९२ ९१, ९० ८८ ८२ ८०, ७९ ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक १३ तेरह सत्त्व बतलाये हैं। यथा—

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य। ऊणासीदि सत्तत्तरि दस य णव संता ॥ ६०९ ॥

यहाँ ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब प्रकृतियोंका सत्त्व स्वीकार गया है। तीर्थंकर प्रकृतिके कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्त्व होता है। आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगके कम कर देने पर प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर आहारक शरीर और आ आंगोपांगके कम कर देने पर ९० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इ देवद्विककी उद्वलना होने पर ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इ नारक चतुष्ककी उद्वलना होने पर ८४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इ मनुष्यद्विककी उद्वलना होने पर ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। अनिवृत्ति करणके ९३ प्रकृतियोंमेंसे नरकद्विक आदि १३ प्रकृतियोंका क्ष

तिके कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमेंसे आहारक शरीर, आहारक आगोपाग, आहारक सघात और आहारक बन्धन इन चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमे से तीर्थंकर प्रकृतिके कम कर देने पर ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इन ८८ प्रकृतियोंमेंसे नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी की या देवगति और देवगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना हो जाने पर ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। अथवा, नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बध करनेवाले ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाले जीवके नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आगोपाग, वैक्रिय सघात और वैक्रिय बन्धन इन छह प्रकृतियोंका बन्ध होने पर ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी, और वैक्रियचतुष्क इन छह प्रकृतियों की उद्वलना हो जाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। या देवगति, देवगत्यानुपूर्वी और

जाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ९२ में से उक्त १३ प्रकृतियोंके घटा देने पर ७९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इन्हीं १३ प्रकृतियोंको ९१ मेंसे घटाने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ९० मेंसे इन्हीं १३ प्रकृतियोंको घटाने पर ७७ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर अयोगिकेवलीके १० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और सामान्य अयोगि केवलीके ९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

कर्मप्रकृतिमें व पचसंग्रहसप्ततिकामें नामकर्मके १०३, १०२, ९६, ९५ ९३, ९०, ८९, ८४ ८३, ८२, ९ और ८ ये १२ सत्त्वस्थान भी बतलाये हैं। यहाँ ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान दो प्रकार से बतलाया है। विशेष व्याख्यान वहाँ से जान लेना चाहिये। सप्ततिकाप्रकरणके सत्त्वस्थानोंसे इनमें इतना ही अन्तर है कि ये स्थान बन्धनके १५ भेद करके बतलाये गये हैं।

चैन्द्रियचतुष्क इन छह प्रकृतियोंकी उद्वलना हो जाने पर ८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना होने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ये सात सत्त्वस्थान अक्षपकोंकी अपेक्षा कहे। अब क्षपकों की अपेक्षा सत्त्वस्थानोंका विचार करते हैं—जब क्षपक जीव ९३ प्रकृतियोंमें से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय कर देते हैं तब उनके ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। जब ९२ प्रकृतियोंमेंसे इनका क्षय कर देते हैं तब ७९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। जब ८९ प्रकृतियोंमेंसे इनका क्षय कर देते हैं तब ७६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा जब ८८ प्रकृतियोंमेंसे इनका क्षय कर देते हैं तब ७५ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। अब रहे ९ और ८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सो इनमेंसे मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त सुभग आदेय यशःकीर्ति और तीर्थंकर यह नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान है। यह तीर्थंकरके अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें प्राप्त होता है। और इसमें से तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर ८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह सामान्य केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें प्राप्त होता है। इस प्रकार गाथानुसार नाम कर्मके ये बारह सत्त्वस्थान जानना चाहिये।

अब नामकर्मके बंधस्थान आदिके परस्पर संबंधका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

अट्ठ य बारस बारस बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
ओहेणादेसेण य जत्थ जहासंभवं विभजे॥ ३०॥

अर्थ—नाम कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थान क्रमसे ८, १२ और १२ हैं। इनके ओघ और आदेशसे जहाँ जितने संभव हों उतने विकल्प करना चाहिये।

विशेषार्थ—यद्यपि ग्रन्थकार नामकर्मके बन्धस्थान, उदय स्थान और सत्त्वस्थान पहले ही बतला आये हैं उन्हीं से यह ज्ञात हो जाता है कि नामकर्मके बन्धस्थान ८ हैं, उदयस्थान १२ हैं और सत्त्वस्थान भी १२ हैं। फिर भी ग्रन्थकारने यहाँ पर उनका पुनः निर्देश उनके परस्पर संवेध भंगोंके सूचन करनेके लिये किया है। जिनके प्राप्त करनेके दो ही मार्ग हैं–एक ओघ और दूसरा आदेश। ओघ सामान्यका पर्यायवाची है अतः प्रकृतमें ओघका यह अर्थ हुआ कि जिस प्ररूपणामें केवल यह बतलाया गया है कि अमुक बन्धस्थानका बन्ध करनेवाले जीवके अमुक उदयस्थान और अमुक सत्त्वस्थान होते हैं वह ओघ प्ररूपणा है। तथा आदेश विशेषका पर्यायवाची है, अतः आदेश प्ररूपणामें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान और गति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्थान, उदय-स्थान और सत्त्वस्थानोंका विचार किया गया है। ग्रन्थकारने जो मूलमें ओघ और आदेशके अनुसार विभाग करनेका निर्देश किया है सो उससे इसी विषयकी सूचना मिलती है।

अब पहले ओघसे संवेध का विचार करते हैं—

नवपंचोदयसत्ता तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे।
अट्ठ चउरट्ठवीसे नव सत्तुगतीस तीसम्मि॥ ३१॥

एगेगमेगतीसे एगे एगुदय अट्ठ सतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस वेयगसतम्मि ठाणाणि ॥ ३२ ॥

अर्थ—तेइस, पच्चीस और छब्बीस इनमेंसे प्रत्येक
नम नौ उदयस्थान और पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। अट्ठाइस
तिक बन्धस्थानमें आठ उदयस्थान और चार सत्त्वस्थान होते
उनतीस और तीसमेंसे प्रत्येक बन्धस्थानमें नौ उदयस्थान
सात सत्त्वस्थान होते हैं। इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें
उदयस्थान और एक सत्त्वस्थान होता है। एक प्रकृतिक बन्धस्था
में एक उदयस्थान और आठ सत्त्वस्थान होते हैं। तथा बन्ध
अभावमें उदय और सत्त्वकी अपेक्षा दस दस स्थान होते हैं॥

विशेषार्थ—इन दो गाथाओंसे हम केवल इतना ही ज्ञान होता
है कि किस बन्धस्थानमें कितने उदयस्थान और कितने सत्त्वस्थान
है। उनसे यह ज्ञात नहीं होता कि वे उदयस्थान और सत्त्वस्थान
कौन कौन हैं अत आगे उक्त दो गाथाओंके आश्रयसे इसी बात
का विचार करते हैं—तेइस प्रकृतिक बन्धस्थानमें अपर्याप्तक
एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है जिसको एकेन्द्रिय,
दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य
बाँधते हैं। इन तेइस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके

---

(१) नवपचोदयसत्ता तेवीसे पण्णवीसछब्बीसे। अट्ठ चउरट्ठवीसे
नवसत्तिगुनतीसतीसे य। एक्के इगतीसे एक्के एक्कुदय अट्ठसतंसा। उवरय
बंधे दस दस नामोदयसन्तठाणाणि ॥—पञ्च सप्त० गा० ९९–१००।
णवपचोदयसत्ता तेवीसे पण्णुवीस छब्बीसे। अट्ठ चदुरट्ठवीसे णवसत्तुगुतीस
तीसम्मि ॥ एगेगं इगितीसे एगे एगुदयमट्ठसत्ताणि। उवरदबंधे दस दस
उदयंसा होंति णियमेण ॥—गो कर्म० गा ७४०–७४१।

सामान्यसे २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये नौ उदयस्थान होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—जो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्य तेईस प्रकृतियोंका बन्ध कर रहा है उसके भवके अपान्तरालमें तो इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है, क्योंकि २१ प्रकृतियोंके उदयमें अपर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य २३ प्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है। २४ प्रकृतिक उदयस्थान अपर्याप्त और पर्याप्त एकेन्द्रियोंके होता है क्यों कि एकेन्द्रियोंके सिवा अन्यत्र यह उदयस्थान नहीं पाया जाता। पचीस प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्तक एकेन्द्रियों के तथा वैक्रियिक शरीरको प्राप्त मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्तक एकेन्द्रिय तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय तिर्यंचपचेंद्रिय और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्तक एकेन्द्रियोंके और वैक्रिय शरीरको करनेवाले तथा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २८, २९ और ३० प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोंके होता है। इन उपर्युक्त उदयस्थानवाले जीवों को छोड़कर शेष जीव २३ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते। तथा इन २३ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके सामान्यसे ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पांच सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतियों के उदयवाले उक्त जीवोंके तो सब सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। केवल मनुष्योंके ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना करने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है किन्तु मनुष्योंके इन दो प्रकृतियोंकी

उद्वलना सम्भव नहीं। २४ प्रकृतिक उदयस्थानके समय भी पाँचों सत्त्वस्थान होते हैं। केवल वैक्रिय शरीरको करनेवाले वायुकायिक जीवोंके २४ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए ८० और ७८ ये दो सत्त्वस्थान नहीं होते, क्योंकि इनके वैक्रिय षट्क और मनुष्यद्विक इनका सत्त्व नियमसे है। कारण कि ये जीव वैक्रिय शरीरका तो साक्षात् ही अनुभव कर रहे हैं अतः इनके वैक्रियद्विककी उद्वलना सम्भव नहीं। और इसके अभावमें देवद्विक और नरकद्विककी भी उद्वलना सम्भव नहीं, क्योंकि वैक्रियषट्ककी उद्वलना एक साथ होती है ऐसा स्वभाव है। और वैक्रियषट्ककी उद्वलना हो जाने पर ही मनुष्यद्विककी उद्वलना होती है अन्यथा नहीं। चूर्णिमें भी कहा है—

'वेउव्वियछक्कं उव्वलेउं पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ।'

अर्थात् 'यह जीव वैक्रियषट्ककी उद्वलना करके अनन्तर मनुष्यद्विककी उद्वलना करता है।'

अतः सिद्ध हुआ कि वैक्रियशरीरको करनेवाले वायुकायिक जीवोंके २४ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान ही होते हैं। ८० और ७८ सत्त्वस्थान नहीं होते।

२५ प्रकृतिक उदयस्थानके होते हुए भी उक्त पाँचों सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु इनमेंसे ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान वैक्रियशरीरको नहीं करनेवाले वायुकायिक जीवोंके तथा अग्निकायिक जीवोंके ही होता है अन्य के नहीं, क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर अन्य सब पर्याप्त जीव नियमसे मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका बन्ध करते हैं। चूर्णिकारने भी कहा है कि—

'तेउवाउवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधेइ।'

अर्थात् 'अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर अन्य पर्याप्तक जीव मनुष्यगतिका नियमसे बन्ध करते हैं।'

इससे सिद्ध हुआ कि ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अग्निकायिक जीवों को और वैक्रियशरीरको नहीं करनेवाले वायुकायिक जीवोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी उक्त पाँचों सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान वैक्रियशरीरको नहीं करनेवाले वायुकायिक जीवोंके तथा अग्निकायिक जीवोंके होता है। तथा जिन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोंमें उक्त अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्पन्न हुए हैं उनके भी जब तक मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका बन्ध नहीं हुआ है तब तक ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

२७ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके सिवा शेष चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २७ प्रकृतिक उदयस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय और वैक्रियशरीरको करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है पर इनके मनुष्यद्विकका सत्त्व होनेसे ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं पाया जाता है।

शंका—अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके २७ प्रकृतिक उदयस्थान क्यों नहीं होता ?

समाधान—एकेन्द्रियोंके २७ प्रकृतिक उदयस्थान आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिलाने पर होता है पर अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके आतप और उद्योतका उदय होता नहीं, अतः इनके २७ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता यह कहा है।

तथा २८, २९ ३० और ३१ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानको छोड़कर नियमसे शेप चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २८, २९ और ३० प्रकृतियों का उदय पर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है और ३१ प्रकृतिका उदय पर्याप्त विकलेन्द्रिय और पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके होता है परन्तु इन जीवोंके मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी सत्ता नियमसे पाई जाती है। अत उपर्युक्त उदयस्थानोंमें ७८ प्रकृतिक सत्त्व स्थान नहीं होता यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार २३ प्रकृतियोंका बंध करनेवाले जीवोंके यथायोग्य नौ ही उदयस्थानोंकी अपेक्षा चालीस सत्त्वस्थान होते हैं।

२५ और २६ प्रकृतियोंका बंध करनेवाले जीवोंके भी उदय स्थान और सत्त्वस्थान इसी प्रकार जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि पर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य २५ और २६ प्रकृतिका बन्ध करनेवाले देवोंके २१, २५, २७, २८, २९ और ३० इन छह उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो सत्तास्थान ही प्राप्त होते हैं। अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके योग्य २५ प्रकृतियोंका बंध देव नहीं करते, क्योंकि उक्त अपर्याप्त जीवोंमें देव उत्पन्न नहीं होते। अत सामान्यसे २५ और २६ इनमेंसे प्रत्येक बंधस्थानमें नौ उदयस्थानोंकी अपेक्षा ४० सत्त्वस्थान होते हैं।

२८ प्रकृतिक बंधस्थानमें २१, २५, २६ २७ २८ २९, ३० और ३१ ये आठ उदयस्थान होते हैं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके दो भेद हैं एक देवगतिप्रायोग्य और दूसरा नरकगतिप्रायोग्य। इनमेंसे देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बंध होते समय नाना जीवोंकी अपेक्षा उपयुक्त आठों ही उदयस्थान होते हैं और नरक गतिके योग्य प्रकृतियोंका बंध होते समय ३० और ३१ प्रकृतिक ये दो ही उदयस्थान होते हैं। इनमसे देवगतिके योग्य २८ प्रकृतिया

या बंध करनेवाले जीवके २१ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि पचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके भवके अपान्तरालमें रहते समय होता है। पचीस प्रकृतिक उदयस्थान आहारकसंयतोंके और वैक्रियशरीरको करनेवाले सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिकसम्यग्दृष्टि या वेदकसम्यग्दृष्टि शरीरस्थ पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान आहारक संयतोंके और सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि वैक्रियशरीरको करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २८ और २९ प्रकृतिक उदयस्थान क्रमसे शरीरपर्याप्ति और प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए क्षायिकसम्यग्दृष्टि या वेदकसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके तथा आहारकसंयत, वैक्रियसंयत और वैक्रियशरीरको करनेवाले सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके तथा आहारकसंयत और वैक्रिय संयतोंके होता है। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके होता है। नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ३० प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके होता है। अब सत्त्वस्थानोंकी अपेक्षासे विचार करने पर २८ प्रकृतियोंका बन्ध करने वाले जीवोंके सामान्यसे ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। उसमें भी जिसके २१ प्रकृतियोंका उदय हो और देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होता हो उसके ९२ और ८८ ये दो ही सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि यहां तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं होती। यदि तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता मानी जाय तो देवगतिके योग्य २८ प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं

बनता। ३० प्रकृतियोंका उदय रहते हुए २८ प्रकृतियोंका बंध आहारकसंयत और वैक्रियशरीरको करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है, अतः यहाँ भी सामान्यसे ९२ और ८८ ये दो ही सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे आहारक संयतोंके आहारक चतुष्कका सत्त्व नियमसे होता है, अतः इनके ९२ प्रकृतियोंका ही सत्त्व होगा। शेष जीवोंके आहारक चतुष्कका सत्त्व होगा और नहीं भी होगा अतः इनके दोनों सत्त्वस्थान बन जाते हैं। २६, २७, २८ और २९ प्रकृतियोंके उदयमें भी ये दो ही सत्त्वस्थान होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें देवगति या नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बंध करनेवाले जीवोंके सामान्यसे ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे ९२ और ८८ सत्त्वस्थानोंका विचार तो पूर्ववत् ही है किन्तु शेष दो सत्त्वस्थानोंके विषयमें कुछ विशेषता है। जो निम्नप्रकार है—किसी एक मनुष्यने नरकायुका बन्ध करनेके पश्चात् वेदकसम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। अनन्तर मनुष्य पर्यायके अन्तमें वह सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हुआ तब उसके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध न होकर २८ प्रकृतियोंका ही बंध होता है और सत्तामें ८९ प्रकृतियां ही प्राप्त होती हैं। ऐसे जीवके आहारक चतुष्कका सत्त्व नियमसे नहीं होता इसलिये यहां ८९ प्रकृतियोंकी सत्ता कही है। तथा ९३ प्रकृतियोंमेंसे तीर्थंकर, आहारक चतुष्क, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और वैक्रियचतुष्क इन १३ प्रकृतियोंके बिना ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार ८० प्रकृतियोंकी सत्तावाला कोई एक जीव पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य होकर सब पर्याप्तियोंकी पूर्णताको प्राप्त हुआ। तदनन्तर यदि वह विशुद्ध परिणामवाला हुआ तो उसने देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध किया और इस प्रकार देवद्विक और वैक्रिय

चतुष्ककी सत्ता प्राप्त की, अतः उसके २८ प्रकृतियोंके बन्धके समय ८६ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। और यदि वह जीव संक्लेश परिणामवाला हुआ तो उसके नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होता है और इस प्रकार नरकद्विक और वैक्रिय चतुष्ककी सत्ता प्राप्त हो जानेके कारण भी ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें २८ प्रकृतियोंका बन्ध होने समय ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। तथा इकतीस प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि जिसके २८ प्रकृतियोंका बन्ध और ३१ प्रकृतियोंका उदय है वह पचेन्द्रिय तिर्यंच ही होगा। किन्तु तिर्यंचों के तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्तावाला मनुष्य तिर्यंचों में नहीं उत्पन्न होता। अतः यहा ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका निषेध किया है।

अब २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंमसे प्रत्येकमें ९ उदय स्थान और ७ सत्त्वस्थान होते हैं इनका क्रमशः विचार करते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये नौ उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतियोंका उदय तिर्यंच और मनुष्योंके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्योंके तथा देव और नारकियोंके होता है। चौबीस प्रकृतियोंका उदय पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके होता है। पच्चीस प्रकृतियोंका उदय पर्याप्त एकेन्द्रियोंके देव और नारकियोंके तथा वैक्रियशरीरको करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २६ प्रकृतियोंका उदय पर्याप्तक एकेन्द्रियोंके तथा पर्याप्त और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतियोंका उदय पर्याप्तक

पचेन्द्रियोंके, देव और नारकियोंके तथा वैक्रियशरीरको करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २८ और २९ प्रकृतियोंका उदय विकलेन्द्रिय तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके तथा वैक्रियशरीर को करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके तथा देव और नारकियोंके होता है। ३० प्रकृतियोंका उदय विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके तथा उद्योतका वेदन करनेवाले देवोंके होता है। तथा ३१ प्रकृतियोंका उदय उद्योतका वेदन करनेवाले पर्याप्त विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियोंके होता है। तथा देवगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बध करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्योंके २१, २६, २८, २९ और ३० ये पाच उदयस्थान होते हैं। आहारक संयत और वैक्रियसयतके २५ २७, २८, २९ और ३० ये पाच उदय स्थान होते हैं। वैक्रियशरीरको करने वाले असयत और सयता सयत मनुष्योंके ३० के बिना ४ उदयस्थान होते हैं। मनुष्योंमे सयतोंको छोड़कर यदि अन्य मनुष्य वैक्रियशरीरको करते हैं तो उनके उद्योतका उदय नहीं होता, अत यहा ३० प्रकृतिक उदयस्थान का निषेध किया है। इस प्रकार २९ प्रकृतिक बधस्थानमे कितने उदयस्थान होते हैं इसका विचार किया।

अब सत्त्वस्थानोंका विचार करते हैं—२९ प्रकृतिक बधस्थान मे ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८० और ७८ ये सात सत्त्वस्थान होते हैं। यदि विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियके योग्य २९ प्रकृतियो का बध करनेवाले पर्याप्तक और अपर्याप्तक एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोंके २१ प्रकृतियोंका उदय होता है तो वहाँ ९२, ८८ ८६, ८० और ७८ ये पाच सत्त्वस्थान होते हैं। इसी प्रकार २४, २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें उक्त पाच सत्त्वस्थान जानना चाहिये। तथा २७, २८, २९, ३० और ३१ इन उदयस्थानोंमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानको छोड़कर शेष चार

सत्त्वस्थान होते हैं। इसका विचार जिस प्रकार २३ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके कर आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी कर लेना चाहिये। मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोंके तथा तिर्यंच गति और मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मनुष्योंके अपने अपने योग्य उदयस्थानोंके रहते हुए ७८ को छोड़ कर वे ही चार सत्त्वस्थान होते हैं। तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य गतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले देव और नारकियोंके अपने अपने उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो ही सत्तास्थान होते हैं। किन्तु मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि नारकीके तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ताके रहते हुए अपने पाच उदयस्थानोंमें एक ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है, क्योंकि जो तीर्थंकर प्रकृतिसहित हो वह यदि आहारक चतुष्क रहित होगा तो ही उसका मिथ्यात्वमें जाना सम्भव है, क्योंकि तीर्थंकर और आहारक चतुष्क इन दोनोंका एक साथ सत्त्व मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नहीं पाया जाता ऐसा नियम है। अतः ९३ मेंसे आहारक चतुष्कके निकाल देनेपर उस नारकीके ८९ का ही सत्त्व प्राप्त होता है।

---

(१) 'उभयतित्थो न मिच्छो।' 'तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए। तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि।'—गो० क० गा० ३३३।

ये ऊपर जो उद्धरण दिये हैं इनमें यह बतलाया है कि मिथ्यादृष्टिके तीर्थंकर और आहारक चतुष्क इनका एक साथ सत्त्व नहीं पाया जाता। तथापि गोम्मटसार कर्मकाण्डके सत्त्वस्थान अधिकारकी गाथा ३६५ और ३६६ से इस बातका भी पता चलता है कि मिथ्यादृष्टिके भी तीर्थंकर और आहारक चतुष्ककी सत्ता एक साथ पाई जा सकती है, ऐसा भी एक मत रहा है।

नहीं करता, इसलिये इसके २५ आदि उदयस्थान नहीं होते किन्तु एक ३० प्रकृतिक ही उदयस्थान होता है। तथा इसके ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९ ७६ और ७५ ये आठ सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। इनमेंसे पहलेके चार सत्त्वस्थान उपशमश्रेणीकी अपेक्षा और अन्तिम चार सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणी की अपेक्षा कहे हैं। किन्तु जबतक अनिवृत्तिकरणके प्रथम भागमें स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, एकेन्द्रियादि चार जाति, साधारण, आतप और उद्योत इन १३ प्रकृतियोंका क्षय नहीं होता तबतक ९३ आदि प्रारम्भके ४ सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणीमें भी पाये जाते हैं। इस प्रकार यहाँ एक प्रकृतिक बन्धस्थान होता है, वहाँ एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान और ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ ये आठ सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब बन्धके अभावमें उदयस्थान और सत्त्वस्थान कितने होते हैं इसका विचार करते हैं—नामकर्मका बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है आगेके चार गुणस्थानोंमें नहीं, किन्तु उदय और सत्त्व १४ वें गुणस्थान तक होता है फिर भी उसमें विविध दशाओं और जीवोंकी अपेक्षा अनेक उदयस्थान और सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। यथा—

केवलीको केवल समुद्घातमें ८ समय लगते हैं। इनमेंसे तीसरे चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणकाय योग होता है, जिसमें पचेन्द्रियजाति, त्रसत्रिक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, मनुष्यगति और ध्रुवोदय १२ प्रकृतियाँ इस प्रकार कुल मिलाकर २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है और तीर्थंकर बिना ७९ तथा तीर्थंकर और आहारक चतुष्क इन पाँचके बिना ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। अब यदि इस अवस्थामें विद्यमान तीर्थंकर हुए तो उनके एक तीर्थंकरप्रकृतिका भी उदय और सत्त्व होनेसे २१ प्रकृतिक उदयस्थान

और ८० तथा ७६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होगे। तथा जब केवली समुद्घातके समय औदारिक मिश्रकाययोगमें रहते हैं तब उनके औदारिकद्विक, वज्रर्षभनाराचसहनन, छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंको पूर्वोक्त २० प्रकृतियोंमें मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा ७९ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। अब यदि तीर्थंकर औदारिक मिश्रकाययोगमें हुए तो उनके तीर्थंकर प्रकृतिके और मिल जानेसे २७ प्रकृतिक उदयस्थान तथा ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं।

तथा इन २६ प्रकृतियोंमें पराघात उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगतिमेंसे कोई एक तथा दो स्वरोंमें से कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है जो औदारिक काययोगमें विद्यमान सामान्य केवली तथा ग्यारहवें और १२ वें गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इस हिसाबसे ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें ९३, ९२, ८९, ८८, ७९ और ७५ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके ४ सत्त्वस्थान उपशान्त मोह गुणस्थानकी अपेक्षा और अन्तके दो सत्त्वस्थान क्षीणमोह और सयोगिकेवलीकी अपेक्षा कह हैं। अब यदि इस ३० प्रकृतिक उदयस्थानमेंसे स्वर प्रकृतिको निकाल दें और तीर्थंकर प्रकृतिको मिला दें तो भी उक्त उदयस्थान प्राप्त होता है जो तीर्थंकर केवलीके वचन योगके निरोध करने पर होता है। किन्तु इसमें सत्त्वस्थान ८० और ७६ ये दो होते हैं क्योंकि सामान्य केवलीके जो ७९ और ७५ सत्त्व स्थान कह आये हैं उनमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिल जानेसे ८० और ७६ ही प्राप्त होते हैं।

तथा सामान्य केवलीके जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिलाने पर तीर्थंकर केवलीके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और इसी प्रकार ८० और ७६ ये दो

सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि सामान्यकेवलीके जो ७५ और ७९ ये दो सत्त्वस्थान बतलाये हैं उनमें तीर्थंकर प्रकृति और मिला दी गई है।

सामान्य केवलीके जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमेंसे वचन योगके निरोध करने पर स्वर प्रकृति निकल जाती है अतः २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। या तीर्थंकर केवलीके जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है उसमेंसे श्वासोच्छ्वासके निरोध करने पर उच्छ्वास प्रकृतिके निकल जानेसे २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इनमेंसे पहला उदयस्थान सामान्य केवलीके और दूसरा उदयस्थान तीर्थंकर केवलीके होता है, अतः प्रथम २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७९ और ७५ तथा द्वितीय २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं।

सामान्यकेवलीके वचनयोगके निरोध करने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान कह आये हैं उसमेंसे श्वासोच्छ्वासके निरोध करने पर उच्छ्वास प्रकृतिके कम हो जानेसे २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह सामान्यकेवली के होता है अतः यहाँ ७९ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं।

तथा तीर्थंकर केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानमें ९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उपान्त्य समय तक ८० और ७६ तथा अन्तिम समयमें ९ प्रकृतिक ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु सामान्यकेवलीकी अपेक्षा अयोगिकेवली गुणस्थानमें ८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उपान्त्य समय तक ७९ और ७५ तथा अन्तिम समयमें ८ प्रकृतिक ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं।

इस प्रकार बन्धके अभावमें २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ ये दस उदयस्थान और ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६, ७५, ९ और ८ ये १० सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

उक्त विशेषताओंका ज्ञापक कोष्ठक

[२३]

गुण०	बन्ध स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्ता स्थान
१ मि०	२३	४	२१	३२	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	२३	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२७	३२	९२,८८,८६,८० ४
			२८	११८२	९२,८८,८६,८० ४
			२९	१७६४	९२,८८,८६,८० ४
			३०	२९०६	९२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	९२,८८,८६,८० ४
१	२५	२५	२१	४०	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	३१	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२७	३०	९२,८८,८६,८० ४
			२८	११९८	९२,८८,८६,८० ४
			२९	१७८०	९२,८८,८६,८० ४
			३०	२९१४	९२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	९२,८८,८६,८० ४
१	२६	१६	२१	४०	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	३१	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२७	३०	९२,८८,८६,८० ४
			२८	११९८	९२,८८,८६,८० ४
			२९	१७८०	९२,८८,८६,८० ४
			३०	२९१४	९२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	९२,८८,८६,८० ४

गुण०	बन्ध स्थान	भंग	उदयस्थान	भग	सत्ता स्थान	
७ व ८	३१	१	३०	१४४	९३	१
८,९, १०	१	१	३०	७२	९३,९२,८९,८८ ८०,७९,७६,७५	
११,१२ १३ व १४	०	०	२०	१	७९ ७५	२
			२१	१	८०,७६	२
			२६	६	७९ ७५	२
			२७	१	८०,७६	२
			२८	१२	७९,७५	२
			२९	१२	८०,७२,७६,७५	४
			३०	७२	९३,९२,८९,८८,८०,७९,७६, ७५	८
११,१२ १३ व १४	०	०	३१	१	८०,७६	२
			९	१	८०,७६ ९	३
			८	१	७९,७५,८	३
		११३६४५		४६७२४	२८४	

इस प्रकार आठों उत्तर प्रकृतियोंके बन्धस्थान उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका तथा उनके परस्पर संवेध भंगोंका कथन समाप्त हुआ।

अब उसी क्रमसे इनके जीवस्थान और गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामी का कथन करते हैं—

तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु।
भंगा पउंजियव्वा जत्थ जहा संभवो भवइ ॥३३॥

अर्थ—प्रकृतिस्थान बन्ध, उदय और सत्त्वके भेदसे तीन

प्रकारके हैं अतः इनकी अपेक्षा जीवस्थान और गुणस्थानोंमें जहाँ जितने सम्भव हों वहाँ उतने भंग घटित करने चाहिये।

विशेषार्थ—अभी तक ग्रन्थकारने मूल और उत्तर प्रकृतियों के बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थान तथा उनके संवेध भंग बतलाये हैं। साथ ही मूलप्रकृतियोंके इन स्थानों और उनके संवेध भंगोंके जीवस्थान और गुणस्थानों की अपेक्षा स्वामीका निर्देश भी किया। किन्तु अभी तक उत्तर प्रकृतियोंके बन्धस्थान, उदयस्थान तथा इनके परस्पर संवेध भंगोंके स्वामीका निर्देश नहीं किया है जिसका किया जाना जरूरी है। इसी कमीको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकारने इस गाथाद्वारा स्वामी के निर्देश करने की प्रतिज्ञा की है। गाथाका आशय है कि तीन प्रकारके प्रकृतिस्थानोंके सब भंग जीवस्थान और गुणस्थानोंमें घटित करके बतलाये जायेंगे। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारको जीवस्थानों और गुणस्थानोंमें ही भंगोंका कथन करना इष्ट है मार्गणास्थानोंमें नहीं। यही कारण है, जिससे मलयगिरि आचार्यने प्रथम गाथामें आये हुए 'सिद्धपद' का दूसरा अर्थ जीवस्थान और गुणस्थान भी किया है।

११ जीवस्थानोंमें संवेधभंग

अब पहले जीवस्थानोंमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके भंग बतलाते हैं—

> तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो।
> एक्कम्मि तिदुविगप्पो करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥३४॥

अर्थ—प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके तीन विकल्प होते हैं और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इस एक जीवस्थानमें तीन और दो विकल्प होते हैं। तथा द्रव्य मनकी अपेक्षा इसके कोई विकल्प नहीं है॥

विशेषार्थ—यह तो पहले ही बतला आये है कि ज्ञानावरण और अन्तरायकी सब उत्तर प्रकृतिया ध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदय और ध्रुवसत्ताक है। इन दोनों कर्मोंकी सब उत्तर प्रकृतियों का अपने अपने विच्छेदके अन्तिम समय तक बन्ध, उदय और सत्त्व निरन्तर होता रहता है। अत प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मको उत्तर प्रकृतियोंके पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इन तीन विकल्परूप एक भग प्राप्त होता है क्यों कि इन जीवस्थानोंमे से किसी जीवस्थानमे इनके बन्ध उदय और सत्त्वका विच्छेद नहीं पाया जाता। तथा अन्तिम पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें ज्ञानावरण और अन्तरायका बन्धविच्छेद पहले होता है तदनन्तर उदय और सत्त्व विच्छेद होता है। अत यहाँ पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस प्रकार तीन विकल्परूप एक भग होता है। तदनन्तर पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस प्रकार दो विकल्परूप एक भग होता है। किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर इस जीवके भावमन तो रहता नहीं फिर भी द्रव्यमन पाया जाता है और इस अपेक्षासे उसे भी पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय कहते है। चूर्णिमें भी कहा है—

'मनकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चति। मणोविण्णाणं पडुच्च ते सन्निणो न हवंति।'

अर्थात् मन नामका करण केवलीके भी है इसलिये वे सज्ञी कहे जाते हैं किन्तु वे मानसिक ज्ञानकी अपेक्षा सज्ञी नहीं होते।'

इस प्रकार सयोगी और अयोगी जिनके पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय सिद्ध हो जाने पर उनके तीन विकल्परूप और दो विकल्परूप भग न प्राप्त होवें इस बातको ध्यानमें रखकर गाथामें बतलाया है कि केवल द्रव्यमनकी अपेक्षा जो जीव पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय

कहलाते हैं उनके ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके बन्ध उदय और सत्त्व का अपेक्षा कोई भंग नहीं है, क्यों कि इन कर्मों की बन्ध, उदय और सत्त्वव्युच्छित्ति केवली होनेसे पहले हो जाती है। गाथाम जीवस्थानके लिये जो 'जीव संक्षेप' पद आया है सो जिन अपर्याप्त एकेन्द्रियत्व आदि धर्मों के द्वारा जीव संक्षिप्त अर्थात् संगृहीत किये जाते हैं उनकी जीवसंक्षेप संज्ञा है, इस प्रकार इस जीवसंक्षेप पद को ग्रन्थकारने जीवस्थान पदके अर्थमें ही स्वीकार किया है ऐसा समझना चाहिये। तथा गाथामें जो करण पद आया है सो उसका अर्थ प्रकृतमें द्रव्यमन लेना चाहिये, क्योंकि केवल द्रव्यमनके रहने पर ही ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मका कोई विकल्प नहीं पाया जाता।

अब जीवस्थानोंमें दर्शनावरण कर्मके भंग बतलाते हैं—

तेरे नव चउ पणगं नव संतेगम्मि भंगमेकारा।

अर्थ—तेरह जीवस्थानोंमें दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिक बन्ध, चार या पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं तथा पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इस एक जीवस्थानमें ग्यारह भंग होते हैं।

विशेषार्थ—प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें दर्शनावरण कर्मकी किसी भी उत्तर प्रकृतिका न तो बन्धविच्छेद होता है, न उदय विच्छेद होता है और न सत्त्वविच्छेद होता है, पाँच निद्राओंमें से एक कालमें किसी एकका उदय होता भी है और नहीं होता, अतः गाथामें इन जीवस्थानोंमें ९ प्रकृतिक बन्ध, ४ प्रकृतिक उदय और ९ प्रकृतिक सत्त्व तथा ९ प्रकृतिक बन्ध ५ प्रकृतिक उदय और ९ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग बतलाये हैं। किन्तु पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इस जीवस्थानमें गुणस्थान क्रमसे दर्शनावरण की नौ प्रकृतियों का बन्ध उदय और सत्त्व तथा इनकी व्युच्छित्ति यह

सब कुछ सम्भव है जिससे इस जीवस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध उदय और सत्त्वकी अपेक्षा ११ भग प्राप्त होते हैं। यही सबब है कि गाथामें इस जीवस्थानमें दर्शनावरण कर्मके ११ भगोंकी सूचना की है। किन्तु समान्यसे सवेध चिन्ता के समय (पृष्ठ ३२ से ३६ तक) इन ११ भगोंका विचार कर आये हैं, अत यहाँ उनका पुन खुलासा नहीं किया जाता है। स्वाध्याय प्रेमियोंको वहाँसे जान लेना चाहिये।

अब जीवस्थानोंमें वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके भग बतलाते हैं—

वेयणियाउगोए विभज्ज मोह पर वोच्छ ॥ ३५ ॥

अर्थ —वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके जो बन्धादि स्थान हैं उनका जीवस्थानोंमें विभाग करके तदनन्तर मोहनीय कर्मका व्याख्यान करेंगे।

विशेषार्थ—उक्त गाथाके तृतीय चरणमें वेदनीय, आयु और गोत्रके विभागका निर्देशमात्र करके चौथे चरणमें मोहनीयके कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ग्रन्थकर्ताने स्वय उक्त तीन कर्मोंके भगोंका निर्देश नहीं किया है और न यह ही बतलाया है कि किस जीवस्थानमें कितने भग होते हैं। किन्तु इन दोनो बातोंका विवेचन करना जरूरी है, अत अन्य आधारसे इसका विवेचन किया जाता है। भाष्यमें एक गाथा आई है जिसमें वेदनीय और गोत्रके भगोंका कथन १४ जीवस्थानोंकी अपेक्षा किया है अत यहाँ वह गाथा उद्धृत की जाती है—

'पज्जत्तगसन्नियरे अट्ठ चउक्क च वेयणियभगा।
सत्तग तिग च गोए पत्तेय जीवठाणेसु ॥'

अर्थात्—'पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें वेदनीय कर्मके आठ भग और शेष तेरह जीवस्थानोंमें चार भग होते हैं। तथा

गोत्र कर्मके पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें ७ भंग और शेष तेरह जीवस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें तीन भंग होते हैं।'

इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें (१) असाताका बन्ध, असाताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (२) असाताका बन्ध साताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (३) साताका बन्ध असाताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (४) साताका बन्ध, साताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (५) असाताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (६) साताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (७) असाता का उदय और असाताका सत्त्व तथा (८) साताका उदय और साताका सत्त्व ये आठ भंग होते हैं क्यों कि इस जीवसमासमें १४ गुणस्थान सम्भव हैं अत ये सब भंग बन जाते हैं। किन्तु प्रारम्भके १३ जीवस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें इन आठ भंगोंमेंसे प्रारम्भके चार भंग ही प्राप्त होते हैं क्योंकि इनमें साता और असाता इन दोनोंका यथासम्भव बन्ध उदय और सत्त्व सर्वदा सम्भव है।

तथा पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें (१) नीचका बन्ध नीच का उदय और नीचका सत्त्व (२) नीचका बन्ध, नीचका उदय और उच्च नीच इन दोनोंका सत्त्व (३) नीचका बन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीच इन दोनोंका सत्त्व (४) उच्चका बन्ध, नीचका उदय और उच्च नीच इन दोनोंका सत्त्व (५) उच्चका बन्ध उच्चका उदय और उच्च नीचका सत्त्व (६) उच्चका उदय और उच्च नीच इन दोनोंका सत्त्व तथा (७) उच्चका उदय और उच्चका सत्त्व ये सात भंग प्राप्त होते हैं। इनमें से पहला भंग ऐसे संज्ञियों के होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर संज्ञियों में उत्पन्न होते हैं,

क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के उच्च गोत्रकी उद्वलना देखी जाती है। फिर भी यह भग सज्ञी जीवोंके कुछ काल तक ही पाया जाता है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें दूसरा और तीसरा भग प्रारम्भ के दो गुणस्थानों की अपेक्षा से कहा है। चौथा भग प्रारम्भ के पाच गुणस्थानों की अपेक्षासे कहा है। पाचवा भग प्रारम्भके १० गुणस्थानों की अपेक्षासे कहा है। छठा भग उपशान्त मोहसे लेकर अयोगिकेवली के उपान्त्य समय तक होता है, अत इस अपेक्षा से कहा है। तथा सातवा भग अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समय की अपेक्षासे कहा है। किन्तु शेष तेरह जीवस्थानों में उक्त सात भगों में से पहला, दूसरा और चौथा ये तीन भग ही प्राप्त होते हैं। इनमें से पहला भग अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमें उच्च गोत्रकी उद्वलना के अनन्तर सर्वदा होता है किन्तु शेषमें से उन्हीं के कुछ काल तक होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर अन्य पृथिवीकायिक आदिमें उत्पन्न हुए हैं। तथा इन तेरह जीवस्थानोंमें एक नीच गोत्रका ही बन्ध होता है किन्तु बन्ध दोनोंका पाया जाता है इसलिये इनमें दूसरा और चौथा भग भी बन जाता है। इस प्रकार वेदनीय और गोत्रके किस जीवस्थानमें कितने भग सम्भव हैं इसका विवेचन किया। अब जीवस्थानों में आयुकर्मके भग बतलानेके लिये भाष्य की गाथा उद्धृत की जाती है—

'पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अमण सेसेसु।
अट्ठावीस दसग नवग पणग च आउस्स ॥'

अर्थात् 'पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय, अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और शेष ग्यारह जीवस्थानों में आयु कर्मके क्रमश २८, १०, ९ और ५ भग होते हैं ॥'

आशय यह है कि पहले जो नारकी के ५, तिर्यंचके ६ मनुष्य

के १ और देवके ५ भग बतला आये हैं जो कुल मिलाकर २८ भग होते हैं वे ही यहा पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रियके २८ भग कहे गये हैं। तथा सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव मनुष्य और तिर्यंच ही होते हैं क्योंकि देव और नारकियोंके अपर्याप्तक नाम कर्मका उदय नहीं होता। तथा इनके पर भवसम्बन्धी मनुष्यायु और तिर्यंचायुका ही बन्ध होता है, अत इनके मनुष्य गतिकी अपेक्षा ५ और तिर्यंच गतिकी अपेक्षा ५ इस प्रकार कुल १० भग होते हैं। यथा—आयुबन्ध के पहले तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंचायुका सत्त्व यह एक भग होता है। आयु बन्धके समय तिर्यंचायुका बन्ध, तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायुका सत्त्व तथा मनुष्यायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य तिर्यंचायुका सत्त्व ये दो भग होते हैं। और बन्धकी उपरति होने पर तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच तिर्यंचायुका सत्त्व तथा तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य तिर्यंचायुका सत्त्व ये दो भग होते हैं। कुल मिलाकर ये पाच भग हुए। इसी प्रकार मनुष्य गतिकी अपेक्षा पाच भग जानने चाहिये। इस प्रकार सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान में दस भग हुए। तथा पर्याप्तक असज्ञी पचेन्द्रिय जीव तिर्यंच ही होता है और इसके चारों आयुओं का बन्ध सम्भव है, अत यहा आयुके वे ही नौ भग होते हैं जो सामान्य तिर्यंचों के बतलाये हैं। इस प्रकार तीन जीवस्थानों में से किसमें कितने भग होते हैं यह तो बतला दिया। अब शेष रहे ग्यारह जीवस्थान सो उनमें से प्रत्येक के पाच पाच भग होते हैं, क्योंकि शेप जीवस्थानोंके जीव तिर्यंच ही होते हैं और इनके देवायु तथा नरकायुका बन्ध नहीं होता, अत यहा बन्धकाल से पूर्वका एक भग, बन्धकाल के समय के दो भग और उपरत बन्धकाल के दो भंग इस प्रकार कुल पाच भग ही होते हैं यह सिद्ध हुआ।

जीवस्थानोंमें ८ कर्मोंके भगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[२४]

क्रमांक०	जीवस्थान	ज्ञाना०	दर्श०	वेद०	आयु०	गोत्र	अन्त०
१	एके० सू० अ०	१	२	४	५	३	१
२	एके० सू० प०	१	२	४	५	३	१
३	एके० बा० अ०	१	२	४	५	३	१
४	एके० बा० प०	१	२	४	५	३	१
५	वेइं० अप०	१	२	४	५	३	१
६	बइं० प०	१	२	४	५	३	१
७	तेइं० अ०	१	२	४	५	३	१
८	तेइं० प०	१	२	४	५	३	१
९	चउरि० अ०	१	२	४	५	३	१
१०	चउरि० प०	१	२	४	५	३	१
११	असं० प० अ०	१	२	४	१०	३	१
१२	असं० पं० प०	१	२	४	९	३	१
१३	सं० प० अ०	१	२	४	१०	३	१
१४	सं० प० प०	२	११	८	२८	७	२

अब जीवस्थानों में मोहनीय कर्मके भंग बतलाते हैं—

अट्ठसु पंचसु एगे एग दुगं दस य मोहबन्धगए।
तिग चउ नव उदयगए तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥३८॥

अर्थ—आठ, पांच और एक जीवस्थानोंमें मोहनीयके क्रमसे एक, दो और दस बन्धस्थान, तीन, चार और नौ उदयस्थान तथा तीन, तीन और पन्द्रह सत्तास्थान होते हैं ॥

विशेषार्थ—इस गाथा में कितने जीवस्थानोंमें मोहनीयके कितने बन्धस्थान कितने उदयस्थान और कितने सत्तास्थान होते हैं इस प्रकार संख्यामात्र निर्देश किया है परन्तु वे कौन कौन होते हैं यह नहीं बतलाया है। आगे इसीका खुलासा करते हैं—पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त दो इन्द्रिय, अपर्याप्त तीन इन्द्रिय, अपर्याप्त चार इन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय ये आठ जीवस्थान ऐसे हैं जिनमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है, अतः इनमें एक २२ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहां तीन वेद और दो युगलों की अपेक्षा ६ भंग होते हैं जिनका कथन पहले किया जा है। तथा इन आठों जीवस्थानोंमें ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कमें से किसी एकके उदयके बिना ७ प्रकृतिक उदयस्थान भी होता है पर वह इन जीवस्थानोंमें नहीं पाया जाता, क्योंकि जो जीव उपशम श्रेणीसे

च्युत होकर क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है उसीके मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें एक आवलि कालतक मिथ्यात्वका उदय नहीं होता। परन्तु उक्त जीवस्थानवाले जीव तो उपशम श्रेणी पर चढते नहीं अतः इनके सात प्रकृतिक उदयस्थान सम्भव नहीं। यहा ८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८ भग होते हैं, क्योंकि इन जीवस्थानोंमें एक नपुंसक वेदका ही उदय होता है पुरुषवेद और स्त्रीवेदका नहीं, अतः यहां वेदका विकल्प तो सम्भव नहीं। इस स्थानमें विकल्प वाली प्रकृतियां अब यहीं क्रोधादिक चार और दो युगल सो इनके विकल्पसे आठ भग प्राप्त होते हैं। ९ प्रकृतिक उदयस्थान भय और जुगुप्सा के विकल्पसे दो प्रकारका है अतः यहाँ आठ को दो से गुणित कर देने पर सोलह भग होते हैं। तथा १० प्रकृतिक उदयस्थान एक ही प्रकारका है अतः यहा पूर्वोक्त आठ भग ही होते हैं। इस प्रकार तीन उदयस्थानोंके कुल ३२ भग हुए जो प्रत्येक जीवस्थानमें अलग अलग प्राप्त होते हैं। तथा इन जीवस्थानोंमें से प्रत्येकमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें इन तीन के सिवा और सत्त्वस्थान नहीं पाये जाते।

तथा पर्याप्तक बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्तक दो इन्द्रिय, पर्याप्तक तीन इन्द्रिय, पर्याप्तक चार इन्द्रिय और पर्याप्तक असज्ञी पचेन्द्रिय इन पाच जीवस्थानों में २२ और २१ प्रकृतिक दो बन्ध

रथा, ७,८,९ और १० प्रकृतिक चार उदयस्थान और २८,२७ और २६ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है इस लिये तो इनके २३ प्रकृतिक बन्धस्थान कहा। तथा सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मरकर इन जीवस्थानोंमे भी उत्पन्न होते हैं इसलिये इनके २१ प्रकृतिक बन्धस्थान कहा। इस प्रकार इन पाच जीवस्थानोंमे २२ और २१ ये दो बन्धस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। इनमे से २२ प्रकृतिक बन्धस्थानके ६ और २१ प्रकृतिक बन्धस्थानके ४ भग होते हैं जिनका खुलासा पहले किया ही है। तथा इन जीवस्थानोंमे ऊपर जो चार उदयस्थान बतलाये हैं सो उनमें से २१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ७, ८ और ९ तथा २२ प्रकृतिक बन्धस्थानमे ८, ९ और १० ये तीन तीन उदयस्थान होते हैं। इन जीवस्थानोंमे भी एक नपुसकवेदका ही उदय होता है अत यहा भी ७ ८ और ९ प्रकृतिक उदयस्थानके क्रमश ८, १६ और ८ भग होंगे। तथा इसी प्रकार ८, ९ और १० प्रकृतिक उदयस्थानके भी ८, १६ और ८ भग होंगे। किन्तु चूर्णिकारका मत है कि असज्ञि लब्धिपर्याप्तकके यथायोग्य तीन वेदोंमे से किसी एक वेदका उदय होता है अत इस मतके अनुसार असज्ञी लब्धिपर्याप्तकके सात आदि उदयस्थानोंमे से प्रत्येकके ८ भग न होकर २४ भग होंगे। तथा इन जीवस्थानोंमे जो २८, २७ और २६ ये तीन सत्त्वस्थान बतलाये हैं सो इसका कारण स्पष्ट ही है। अब शेष रहा पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवसमास सो

इसमें मोहनीयके १० बन्धस्थान, ६ उदयस्थान और १५ सत्त्व स्थान होते हैं जिनका खुलासा पहले किया ही है।

अब इनके संवेधका कथन करते हैं—आठ जीवस्थानोंमें एक २२ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है और उसमें ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। तथा प्रत्येक उदयस्थानमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवस्थानमें कुल सत्त्वस्थान नौ हुए। पांच जीवस्थानोंमें २२ प्रकृतिक और २१ प्रकृतिक ये दो बन्धस्थान होते हैं। सो इनमें से २२ प्रकृतिक बंधस्थानमें ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं और प्रत्येक उदयस्थानमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार कुल सत्त्वस्थान नौ हुए। तथा २१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ७, ८ और ९ प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं और प्रत्येक उदयस्थान में २८ प्रकृतिक एक सत्त्वस्थान होता है, क्योंकि २१ प्रकृतिक बन्धस्थान सासादन गुणस्थान में होता है और सासादन गुणस्थान नियमसे २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके ही होता है, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टियोंके तीन दर्शनमोहनीयका सत्त्व नियमसे पाया जाता है अतः यहां एक २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है। इस प्रकार २१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन उदयस्थानोंकी अपेक्षा तीन सत्त्वस्थान होते हैं। दोनों बन्धस्थानोंकी अपेक्षा यहां प्रत्येक जीव-स्थान में १२ सत्त्वस्थान होते हैं। तथा संज्ञी पर्याप्त जीवस्थानमें मोहनीयके बन्धादि स्थानोंके संवेधका कथन पहले के समान जानना चाहिये।

जीवस्थानोंमें मोहनीयके संवेधभंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

१३

[२५]

जीवस्थान	बंध स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	उदय पद०	पदवृंद	सत्तास्थान
सू. ए. अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
सू. ए. प	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
बा. ए. अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
बा. ए. प	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६ २८
बेइं० अ०	२२	६	८, ९, १०	३२	३८	२८८	२८, २७, २६
बेइं० प०	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६, २
तेइं० अ०	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
तेइं० प०	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६ २८
चउरि. अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
चउरि. प	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६, २८
अ. प. अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
अ. पं. प	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६ २८
स. पं. अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
स. प. प	सब	२१	सब	९८३	२८८	६६४७	सब

अब जीवस्थानोंमें नाम कर्मके भग बतलाते हैं—

पंण दुग पणग पण चउ पणग पणगा हवंति तिन्नेव।
पण छप्पणग छच्छप्पणग अट्ठट्ठ दसग त्ति ॥ ३७ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव।
विगलिंदियो उ तिन्नि उ तह य असन्नी य सन्नी य ॥ ३८ ॥

अर्थ—पाच, दो, पाच, पाच, चार, पाच, पाच पाच पाच, पाच, छह पाच, छह, छह, पाच और आठ, आठ, दस ये बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान हैं। इनके क्रमसे सातों अपर्याप्तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक, तीनों विकलेन्द्रिय पर्याप्तक, असञ्ज्ञी पर्याप्तक और सञ्ज्ञी पर्याप्तक जीव स्वामी होते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओंमें से पहली गाथामें तीन तीन सख्याओं का एक एक गट लिया गया है जिनमें से पहली सख्या बन्धस्थानकी दूसरी सख्या उदयस्थानकी और तीसरी सख्या सत्त्वस्थानकी द्योतक है। ऐसे कुल गट छह हैं। तथा दूसरी गाथा में १४ जीवस्थानों को छह भागोंमें बाट दिया है। इसका यह तात्पर्य है कि पहले भागके जीवस्थान पहले गटके स्वामी हैं और दूसरे भागके जीवस्थान दूसरे गटके स्वामी हैं आदि। यद्यपि

(१) 'पण दो पणगं पण चदु पणग बंधुदयसत्त पणगं च। पण छक्क पणग [illegible] छक्क पणगमट्ठट्ठमेयारं ॥ सत्तेव अपज्जत्ता सामी सुहुमो य बादरा चेव। वियलिंदिया य तिविहा होंति असण्णी कमा सण्णी ॥'—गो० कर्म गा० ७०४ ७०५। (२) गो० कर्म० गा० ७०६ ७०७। (३) गो० कर्म० गा० ७०७। (४) गो० कर्म० गा० ७०८। (५) गो० कर्म० गा० ७०९।

इतने कथनसे यह तो जान लिया जाता है कि अमुक जीवस्थानमें इतने बन्धस्थान इतने उदयस्थान और इतने सत्त्वस्थान होते हैं किन्तु वे कौन कौन हैं यह जानना कठिन है, अतः आगे उन्हीं का सब भंगोंके उक्त गाथाओंके निर्देशानुसार विस्तार से विवेचन किया जाता है—

सातों प्रकारके अपर्याप्तक जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। यहाँ देवगति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, अतः सातों अपर्याप्तक जीवस्थानोंमें २८ ३१ और १ प्रकृतिक बन्धस्थान न होकर २३ २५, २६ २९ और ३० प्रकृतिक पाँच ही बन्धस्थान होते हैं। सो भी इनमें मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। यहाँ सब बन्धस्थानोंके मिलाकर प्रत्येक जीवस्थानमें १३९१७ भंग होते हैं। तथा इन सात जीवस्थानों में से अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय और अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय इन दो जीवस्थानोंमें २१ और २४ प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं। सो इनमें से अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियके २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तैजस शरीर, कार्मण शरीर अगुरुलघु, वर्णादि चार, एकेन्द्रिय जाति स्थावर, बादर, अपर्याप्तक स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन इक्कीस प्रकृतियोंका उदय होता है। यह उदयस्थान अपान्तराल गतिमें प्राप्त होता है। यहाँ भंग एक ही है, क्योंकि यहाँ परावर्तमान शुभ प्रकृतियोंका उदय नहीं होता। अपर्याप्तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके भी यही उदयस्थान होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके बादरके स्थानमें सूक्ष्म प्रकृति का उदय कहना चाहिये। यहाँ भी एक ही भंग है। तथा इस उदयस्थानमें औदारिक शरीर, हुण्ड संस्थान, उपघात तथा प्रत्येक

और साधारणमें से कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इस प्रकृतिके घटा लेने पर २४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो उक्त दोनों जीवस्थानोंमें समानरूपसे सम्भव है। यहां सूक्ष्म अपर्याप्तक और बादर अपर्याप्तकमें से प्रत्येकके प्रत्येक और साधारणकी अपेक्षा दो दो भंग होते हैं। इस प्रकार दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दोनों जीवस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भंग हुए। किन्तु विकलेन्द्रिय अपर्याप्तक, असंज्ञी अपर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक इन पांच जीवस्थानोंमें २१ और २६ प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं। इनमें से अपर्याप्तक दो इन्द्रियके तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी तैजस, कार्मण, अगुरु लघु वर्णादि चार, दो इन्द्रिय जाति, त्रस बादर, अपर्याप्तक स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो अपान्तराल गतिमें विद्यमान जीवके ही होता है अन्यके नहीं। यहां सभी पद अप्रशस्त हैं अतः एक भंग है। इसी प्रकार तीन इन्द्रिय आदि जीवस्थानोंमें भी यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान और उसका १ भंग जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रत्येक जीवस्थान में दो इन्द्रिय जाति न कह कर तेइन्द्रिय जाति आदि अपनी अपनी जातिका उदय कहना चाहिए। तदनन्तर शरीरस्थ जीवके औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, हुण्डसंस्थान सेवार्त संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी एक ही भंग है। इस प्रकार अपर्याप्तक दो इन्द्रिय आदि प्रत्येक जीवस्थानमें दो दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा से दो भंग होते हैं। केवल अपर्याप्त संज्ञी इसके अपवाद हैं। बात यह है कि अपर्याप्त संज्ञी यह जीवस्थान तिर्यंचगति और

हो जाने से २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान भी बन जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त कथनका सार यह है कि २१ और २४ इनमें से प्रत्येक उदयस्थानमें पांच पांच सत्त्वस्थान होते हैं और २५ तथा २६ इन दो में से प्रत्येकमें एक अपेक्षा चार चार और एक अपेक्षा पांच पांच सत्त्वस्थान होते हैं। किस अपेक्षासे चार और किस अपेक्षासे पांच सत्त्वस्थान होते हैं इसका उल्लेख ऊपर किया ही है।

आगे गाथाकी सूचनानुसार बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव स्थानमें बन्धस्थान आदि और यथासम्भव उनके भंग बतलाते हैं— बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी मनुष्यगति और तिर्यचगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करता है अतः यहां भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक पांच बन्धस्थान और तदनुसार इनके कुल भंग १३९१७ होते हैं। तथा उदयस्थानोंकी अपेक्षा विचार करने पर बादर एकेन्द्रिय सम्बन्धी पांचों उदयस्थान सम्भव हैं, क्योंकि सामान्यसे अपान्तराल गतिकी अपेक्षा २१ प्रकृतिक, शरीरस्थ होनेकी अपेक्षा २४ प्रकृतिक, शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त होनेकी अपेक्षा २५ प्रकृतिक और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होने की अपेक्षा २६ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान तो पर्याप्त एकेन्द्रिय के नियमसे होते हैं। किन्तु यह बादर है अतः यहां आतप और उद्योतमें से किसी एक प्रकृतिका उदय और सम्भव है अतः यहां २७ प्रकृतिक उदयस्थान भी बन जाता है। इस प्रकार बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थानमें २१, २४, २५, २६, और २७ प्रकृतिक पांच उदयस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। पहले बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तके २१ प्रकृतिक उदयस्थानकी प्रकृतियां गिना आये हैं उनमें अपर्याप्तकके स्थानमें पर्याप्तक के मिला देने पर बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु

इसके यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति इन दोमें से किसी एकका विकल्प से उदय होता है इतनी और विशेषता है। अत इस अपेक्षा से यहा २१ प्रकृतिक उदयस्थानके दो भग हुए। तदनन्तर शरीरस्थ जीवकी अपेक्षा इसमें औदारिक शरीर, हुण्डसस्थान, उपघात तथा प्रत्येक और साधारण इनम से कोई एक ये चार प्रकृतिया मिला दो और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी निकाल लो तो २४ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहा पूर्वोक्त दो भगोंको प्रत्येक और साधारण के विकल्प की अपेक्षा दो मे गुणित कर देने पर चार भङ्ग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि शरीरस्थ विक्रिया करनेवाले बादर वायुकायिक जीवोंके साधारण और यश:कीर्ति का उदय नहीं होता इसलिये यहा एक ही भग होता है। तथा दूसरी विशेषता यह है कि ऐसे जीवोंके औदारिक शरीरका उदय न होकर वैक्रिय शरीर का उदय होता है अत इनके औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रिय शरीर कहना चाहिये। इस प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल पाच भग हुए। तदनन्तर इसमें पराघात के मिलाने पर शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवके २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी पहले के समान पाच भग होते हैं। तदनन्तर इसमें उच्छ्वासके मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी पहले के समान पाच भग होते हैं। अब यदि शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवके आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृतिका उदय हो जाय तो भी २६ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। किन्तु आतप का उदय साधारण के साथ नहीं होता है अत इस पक्ष मे २६ प्रकृतिक उदयस्थान के यश:कीर्ति और अयश:कीर्तिकी अपेक्षा दो भग हुए। हाँ उद्योत का उदय साधारण और प्रत्येक इनमें से किसीके भी साथ होता है अत

इनके विकल्प से चार भंग हुए। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग ११ हुए। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा उच्छ्वास सहित छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थानमें आतप और उद्योतमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी पहले के समान आतप के साथ दो भंग और उद्योत के साथ चार भंग इस प्रकार कुल छह भंग होते हैं। ये पांचों उदयस्थानों के भंग एकत्र करने पर बादर पर्याप्तक के कुल भंग २९ होते हैं। तथा जैसा कि हम पहले लिख आये हैं तदनुसार यहां भी ९२ ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पांच सत्त्वस्थान होते हैं। फिर भी पांच उदयस्थानों के जो २९ भंग हैं उनमें से इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान के दो भंग, २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें वैक्रिय बादर वायुकायिक के एक भंग को छोड़कर शेष चार भंग, तथा २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में प्रत्येक और अयशःकीर्तिके साथ प्राप्त होनेवाला एक एक भंग इस प्रकार इन आठ भंगों में से प्रत्येकमें उपर्युक्त पांचों सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु शेष २१ में से प्रत्येक भंगमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान को छोड़कर शेष चार चार सत्त्वस्थान होते हैं।

अब आगे गाथामें किये गये निर्देशानुसार पर्याप्तक विकलेन्द्रियों में बन्धादि स्थान और यथासम्भव उनके भंग बतलाते हैं—विकलेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी तिर्यंचगति और मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं अतः इनके भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक पांच बन्धस्थान और तदनुसार इनके कुल भंग १३९१७ होते हैं। तथा उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर यहां २१, २६, २८ २९, ३० और ३१ प्रकृतिक छह उदय स्थान बन जाते हैं। इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान में तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, वर्णादि चार,

निर्माण, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, दो इन्द्रियजाति, त्रस, बादर पर्याप्तक, दुर्भग, अनादेय तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमें से कोई एक इस प्रकार इन २१ प्रकृतियों का उदय होता है। जो अपान्तराल गतिमें प्राप्त होता है। इसके यश कीर्ति और अयश कीर्तिके विकल्पसे दो भंग होते हैं। तदनन्तर शरीरस्थ जीवकी अपेक्षा इनमें औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंको मिला कर तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेनेसे २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी वे ही दो भंग होते हैं। तदनन्तर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा इसमें परा घात और अप्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी वे ही दो भंग होते हैं। २९ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे होता है एक तो जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको प्राप्त कर लिया है उसके उद्योतके बिना केवल उच्छ्वास का उदय होनेसे होता है और दूसरे शरीर पर्याप्ति की प्राप्ति होनेके पश्चात् उद्योत का उदय हो जाने से होता है। सो इनमें से प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त ही दो दो भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल चार भंग हुए। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान भी दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक तो जिसने भाषा पर्याप्तिको प्राप्त कर लिया है उसके उद्योतका उदय न होकर यदि केवल स्वरकी दो प्रकृतियोंमें से किसी एक का उदय होने से होता है और दूसरे जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको प्राप्त किया और अभी भाषा पर्याप्तिकी प्राप्ति नहीं हुई किन्तु इसी बीचमें उसके उद्योतका उदय हो गया तो भी ३० प्रकृतिक उदयस्थान बन जाता है। इनमें से पहले प्रकार के ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें यशःकीर्ति और अयश कीर्ति तथा

दोनों स्वरोंके विकल्प से चार भाग प्राप्त होते हैं। किन्तु दूसरे प्रकारके ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें यश कीर्ति और अयश कीर्ति के विकल्पसे केवल दो ही भग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानके कुल छह भग हुए। अब यदि जिसने भाषा पर्याप्ति को भी प्राप्त कर लिया है और जिसके उद्योत का भी उदय है उसके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। सो यहा यश कीर्ति और अयश कीर्ति और दोनों स्वरोंके विकल्पसे चार भग होते हैं। इस प्रकार पर्याप्तक द्वीन्द्रियके सब उदयस्थानोंके कुल भग २ होते हैं। तथा एकेन्द्रियोंके समान इसके भी ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पाच सत्त्वस्थान होते हैं। पहले जो छह उदयस्थानों के २० भग बतला आये हैं उनमें से २० प्रकृतिक उदयस्थानके दो भग और २६ प्रकृतिक उदयस्थानके दो भग इन चार भगोंमें से प्रत्येक भगमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं क्योंकि ७८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जो अग्नि कायिक और वायुकायिक जीव पर्याप्तक द्वीन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं उनके कुछ काल तक ७८ प्रकृतियोंकी सत्ता सम्भव है। तथा इस कालके भीतर द्वीन्द्रियों के क्रमश २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान ही होते हैं अत इन दो उदयस्थानोंके चार भगोंमें से प्रत्येक भगमें उक्त पाच सत्त्वस्थान कहे। तथा इन चार भगों के अतिरिक्त जो शेष १६ भग रह जाते हैं उनमें से किसी में भी ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान न होने से प्रत्येक में चार चार सत्त्वस्थान होते हैं क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके सिवा शेष जीव शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होनेके पश्चात् नियमसे मनुष्य गति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका बन्ध करते हैं अत उनके ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं प्राप्त होता है। इसी प्रकार तेइन्द्रिय

और चारइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके बन्धादि स्थान और उनके भगों का कथन करना चाहिये।

अब गाथामें की गई सूचना के अनुसार असज्ञी पर्याप्त जीवस्थानमें बन्धादिस्थान और यथासम्भव उनके भग बतलाते हैं— असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध तो करते ही हैं किन्तु ये नरकगति और देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका भी बन्ध करते हैं अत इनके २३, २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक छह बन्धस्थान और तदनुसार १३९२६ भग होते हैं। तथा उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करनेपर यहाँ २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक छह उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें यहाँ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णादिचार, निर्माण तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग और दुर्भगमेंसे कोई एक, आदेय और अनादेयमेंसे कोई एक तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक इन २१ प्रकृतियोंका उदय होता है। यह उदयस्थान अपान्तरालगतिमें ही प्राप्त होता है। तथा इसमे सुभगादि तीन युगलोंमेंसे प्रत्येक प्रकृतिके विकल्पसे ८ भग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जब यह जीव शरीरको ग्रहण कर लेता है तब इसके औदारिक शरीर, औदारिक आगोपाग, छह सस्थानोंमेंसे कोई एक सस्थान, छह सहननोंमेसे कोई एक सहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंका उदय और होने लगता है। किन्तु यहाँ आनुपूर्वीका उदय नहीं होता, अत उक्त २१ प्रकृतियोंमें उक्त छह प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छह सस्थान और छह सहननोंकी अपेक्षा भगोंके विकल्प और बढ गये हैं, अत पूर्वोक्त ८ भगोंको दो बार छहसे गुणित

तथा २४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियोंके ही होता है अतः वह भी इसके नहीं बतलाया। इस प्रकार इन चार उदयस्थानोंको छोड़ कर शेष २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये आठ उदयस्थान इसके होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब इन उदयस्थानोंके भंगोंका विचार करने पर इनके कुल भंग ७६७१ प्राप्त होते हैं क्योंकि १२ उदयस्थानोंके कुल भंग ७७९१ हैं सो इनमेंसे १२० भंग कम हो जाते हैं, क्योंकि उन भंगोंका सम्बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तसे नहीं है। कुल सत्त्वस्थान १२ हैं पर यहाँ ९ और ८ ये दो सत्त्वस्थान सम्भव नहीं, क्योंकि ये केवली के ही पाये जाते हैं। हाँ इनके अतिरिक्त ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ और ७५ ये दस सत्त्वस्थान यहाँ पाये जाते हैं सो २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानोंके क्रमशः ८ और २८८ भंगोंमेंसे हो प्रत्येक भंगमें ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाँच पाँच सत्त्वस्थान ही पाये जाते हैं।

इस प्रकार चौदह जीवस्थानोंमें कहाँ कितने बन्धादिस्थान और उनके भंग होते हैं इसका विचार किया। अब उनके परस्पर संवेधका विचार करते हैं—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवोंके २३ प्रकृतिक बंधस्थानमें २१ प्रकृतिक उदयके रहते हुए ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा इसी प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार दोनों उदयस्थानोंके कुल सत्त्वस्थान १० हुए। तथा इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतियोंका बंध करनेवाले उक्त जीवोंके दो दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दस दस सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार कुल सत्त्वस्थान पचास हुए। इसी प्रकार बादर [illegible] अपर्याप्त आदि अन्य छह अपर्याप्तोंके पचास पचास

सत्त्वस्थान जानने चाहिये। किन्तु सर्वत्र अपने अपने दो दो उदयस्थान कहने चाहिये।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके २३, २५, २६, २९ और ३० ये ही पाच बन्धस्थान होते हैं। और एक एक बन्धस्थानमें २१, २४, २५ और २६ ये चार उदयस्थान होते हैं। अत पाचको चारसे गुणा करने पर २० हुए। तथा प्रत्येक उदयस्थानमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं अत २० को ५ से गुणा करने पर १०० सत्त्वस्थान हुए।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके भी पूर्वोक्त पाच बन्धस्थान होते हैं। और एक एक बन्धस्थानमें २१, २४, २५, २६ और २७ ये पाच पाच उदयस्थान होते हैं। अत ५ को ५ से गुणा करने पर २५ हुए। इनमेंसे अन्तिम पाच उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्त्वस्थान होते हैं जिनके कुल भग २० हुए और शेष २० उदय स्थानों में पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं जिनके कुल भग सौ हुए। इस प्रकार यहा कुल भग १२० हुए।

दोइन्द्रिय पर्याप्तकके २३, २५, २६, २९ और ३० ये पॉच बन्धस्थान होते हैं और प्रत्येक बन्धस्थानमें २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ और २६ इन दो उदयस्थानोंमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा शेप चार उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्त्वस्थान होते हैं। ये कुल मिला कर २६ सत्त्वस्थान हुए। इस प्रकार पाच बन्ध-

इसी प्रकार ३० प्रकृतिक बन्धस्थानमें भी २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान ३० सत्त्वस्थानोंका ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यहाँ भी कुछ विशेषता है जिसे आगे बतलाते हैं। बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होते समय २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं जिनका कुल जोड़ १२ होता है। इन्हें पूर्वोक्त ३० में मिला देने पर ३० प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल सत्त्वस्थान ४२ होते हैं। तथा ३१ प्रकृतियोंके बन्धमें तीर्थंकर और आहारकद्विकका बन्ध अवश्य होता है अत यहाँ ९३ की ही सत्ता है। तथा एक प्रकृतिक बन्धके समय ८ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ९३, ९२, ८९ और ८८ ये चार सत्त्वस्थान उपशमश्रेणीमें होते हैं और ८०, ७९, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणीमें होते हैं। तथा बन्धके अभावमें संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके पूर्वोक्त आठ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे प्रारम्भके ४ उपशान्तमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं और अन्तिम ४ क्षीणमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके सब मिलाकर २०८ सत्त्वस्थान होते हैं।

अब यदि द्रव्यमनके संयोगसे केवलीको भी संज्ञी मान लेते हैं तो उनके भी २६ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। यथा—केवलीके २०, २१ २६, २७, २८ २९, ३०, ३१, ९ और ८ ये दस उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे २० प्रकृतिक उदयस्थानमें ७९ और ७५ ये सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २६ और २८ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें

भी ये दो सत्त्वस्थान जानने चाहिये। २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा यही दो २७ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें भी होते हैं। २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८०, ७६, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २८ प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थंकर और सामान्य केवली दोनोंके प्राप्त होता है। अब यदि तीर्थंकरके २८ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होंगे और यदि सामान्य केवलीके २८ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ७६ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान प्राप्त होंगे। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें भी चार सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि यह उदयस्थान तीर्थंकर केवलीके ही होता है। ६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८०, ७६ और ६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो सत्त्वस्थान तीर्थंकरके अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक होता है और अन्तिम सत्त्वस्थान अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तके समयमें होता है। तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७६, ७५ और ८ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो सत्त्वस्थान सामान्य केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक प्राप्त होते हैं और अंतिम सत्त्वस्थान अन्तके समयमें प्राप्त होता है। इस प्रकार ये २६ सत्त्वस्थान हुए। अब यदि इन्हें पूर्वोक्त २०८ सत्त्वस्थानोंमें सम्मिलित कर लिया जाय तो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके कुल २३४ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं।

१४ जीवस्थानोंमें उदयस्थान और उनके भङ्गों का ज्ञापक कोष्ठक—

[२७]

सू० ए० अ०		सू० ए० प०		बा० ए० अ०		बा० ए० प०	
२१	१	२१	१	२१	१	२१	२
२४	२	२४	२	२४	२	२४	५
		२५	२			२५	५
		२६	२			२६	११
						२७	६
२	३	४	७	२	३	५	२९

बेइं० अ०		बेइं० प०		तेइं० अ०		तेइं० प०	
२१	१	२१	२	२१	१	२१	२
२६	१	२६	२	२६	१	२६	२
		२८	२			२८	२
		२९	४			२९	४
		३०	६			३०	६
		३१	४			३१	४
२	२	६	२०	२	२	६	२०

चउरि०	अ०	चउरि०	प०
२१	१	२१	७
२६	१	२६	२
		२८	२
		२९	४
		३०	६
		३१	४
२	७	६	७०

अ० प० अ०		अ० पं० प०		स० प० अ०		स० प० प०	
२१	२	२१	७	२१	२	२१	२५
२६	२	२६	२	२६	७	२५	७६
		२८	७			२६	५७६
		२९	४			२७	२६
		३०	६			२८	११९६
		३१	४			२९	१५७०
						३०	२८९८
						३१	११५७
						७०	१
						९	१
						८	१
							५
२	४	६	२०	२	४	११	७६७६

१४ जीवस्थानोंमें नामकर्मके बन्धनादिस्थान और उनके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक—

मिच्छासाणे बिइए नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥
मिस्साइ नियट्टीओ छ्च्चउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंध तिगे चउ पण नवंस दुसु जुयल छस्संता ॥४०॥
उवसंते चउ पण नव खीणे चउरुदय छच्च चउ संत ।

अर्थ—दर्शनावरण कर्मकी मिथ्यात्व और सास्वादनमें नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पांचका उदय और नौ की सत्ता होती है। मिश्र से लेकर अपूर्वकरणके पहले सातवें भाग तक छह का बन्ध, चार या पांचका उदय और नौकी सत्ता होती है। अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें चारका बन्ध, चार या पांच का उदय और नौकी सत्ता होती है। क्षपकके ९ वीं १० इन दो गुणस्थानोंमें चारका बन्ध, चारका उदय और छहका सत्ता होती है। उपशान्त मोह गुणस्थानमें चार या पांचका उदय और नौकी सत्ता होती है। तथा क्षीणमोह गुणस्थानमें चारका उदय तथा छह और चारकी सत्ता होती है ॥

---

(१) 'मिच्छा सासणगाणं नवबंधुवलक्खिया उ दो भंगा। मीसाओ य नियट्टी जा छब्बंधेण दो दो उ ॥ चउबंधे नव संते दोण्णि अपुव्वाउ सुहुमरागो जा। अब्बंधे चउ संते उवसंते हुंति दो भंगा ॥ चउबंधे छस्संते बायरसुहुमाणमेगुवक्खवयाणं। छसु चउसु व संतेसु दोण्णि अबंधंमि खीणस्स ॥'—पंच० सप्त० गा० १०२–१०४। 'णव सासणो त्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपढमभागो त्ति। चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमो त्ति। खीणो त्ति चारि उदया पंचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु। एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पंचुदया ॥ मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टी खवगपढमभागो त्ति। णव छद्दुचरिमो त्ति य छच्चदुचरिमे ॥ गो० कर्म० गा० ४६०–४६१ ॥"

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियां नौ हैं। इनमेंसे स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध सासादन गुणस्थान तक ही होता है। तथा चक्षुदर्शनावरण आदि चारका उदय अपनी उदयव्युच्छित्ति होने तक निरन्तर बना रहता है किन्तु निद्रादि पांचका उदय कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। उसमें भी एक कालमें एकका ही उदय होता है युगपत् दो या दो से अधिकका नहीं। अत इस हिसाबसे मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानोंमें ९ प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा ९ प्रकृतिक बन्ध, पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग प्राप्त होते हैं। इन दो गुणस्थानों से आगे मिश्रसे लेकर अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक उदय और सत्तामें तो कोई फरक नहीं पडता किन्तु बन्धमें छह प्रकृतियां ही रह जाती हैं। अत इन गुणस्थानोंमें छह प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा छह प्रकृतिक बन्ध, पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग प्राप्त होते हैं। यद्यपि स्त्यानर्द्धित्रिकका उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थानके अन्तिम समयतक ही हो सकता है फिर भी इससे पांच प्रकृतिक उदयस्थानके कथनमें कोई अन्तर नहीं आता। केवल विकल्प रूप प्रकृतियोंमें ही अन्तर पडता है। छठे गुणस्थान तक निद्रादि पांचों प्रकृतियां विकल्पसे प्राप्त होती हैं और आगे निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियां ही विकल्पसे प्राप्त होती हैं। अपूर्वकरणके प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है, अत आगे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक बन्धमें चार ही प्रकृतियां रह जाती हैं किन्तु उदय और सत्ता पूर्ववत् चालू रहती है। अत अपूर्वकरणके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक तीन गुणस्थानोंमें चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ

प्रकृतिक सत्त्व तथा चार प्रकृतिक बन्ध पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि निद्रा या प्रचलाका उदय उपशमश्रेणीमें ही होता है क्षपकश्रेणीमें नहीं, अत एक तो क्षपकश्रेणीमें पाँच प्रकृतिक उदयरूप भंग नहीं प्राप्त होता और दूसरे अनिवृत्ति करणके कुछ भागों के व्यतीत होने पर स्त्यानर्द्धित्रिकका सत्त्वनाश हो कर छहकी ही सत्ता रहता है, अत अनिवृत्तिकरणके अन्तिम संख्यात भाग और सूक्ष्मसम्पराय इन दो क्षपक गुणस्थानोंमें चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग प्राप्त होता है। चाहे उपशम श्रेणीवाला हो या क्षपकश्रेणीवाला सभीके दसवें गुणस्थानके अन्तम दर्शनावरणका बन्ध विच्छेद हो जाता है इसलिये आगेके गुणस्थानोंमें बन्धकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके भंग नहीं प्राप्त होते किन्तु उपशान्तमोह यह गुणस्थान उपशमश्रेणी का है अत इसमें उदय और सत्ता उपशमश्रेणीके दसवें गुणस्थानके समान बनी रहती है और क्षीणमोह यह गुणस्थान क्षपकश्रेणीका है इस लिये इसमें उदय और सत्ता क्षपकश्रेणीके दसवें गुणस्थानके समान बनी रहता है। अत उपशान्त मोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग प्राप्त होते हैं। और क्षीणमोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह भंग प्राप्त होता है। किन्तु जब क्षीणमोह गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय ही नहीं होता है तब इनका क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें सत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि ऐसा नियम है कि जो अनुदय प्रकृतियाँ होती हैं उनका प्रत्येक निषेक स्तिवुकसंक्रमणके द्वारा सजातीय उदयवाली प्रकृतिरूप परिणमता जाता है। इस ... निद्रा और प्रचलाका अन्तिम निषेक बारहवें गुणस्थानके

उपान्त्य समयमें ही चक्षुदर्शनावरण आदि रूप परणम जायगा और इस प्रकार क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें निद्रा और प्रचलाका सत्त्व न रह कर केवल चारकी ही सत्ता रहेगी। अत ऊपर जो क्षीणमोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह भग बतलाया है वह क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक ही प्राप्त होता है तथा अन्तिम समयमें चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग और प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षीणमोहमें भी दो भग होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब गुणस्थानोंमें वेदनीय आदि कर्मों के भग बतलाते हैं—

वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ ४१ ॥

अर्थ—गुनस्थानोंमें वेदनीय आयु और गोत्र कर्मके भगोंका विभाग करके तदनन्तर मोहनीयका कथन करेंगे ॥

विशेषार्थ—यहा ग्रन्थकारने वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके भगोंके विभाग करने मात्रकी सूचना की है किन्तु किस गुणस्थानमें किस कर्मके कितने भग होते हैं यह नहीं बतलाया है, जिनका बतलाया जाना जरूरी है।

यद्यपि मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इन कर्मोंके भगोंका विवेचन किया है पर उनका यह कथन अन्तर्भाष्य सम्बन्धी गाथाओं पर अवलम्बित है। उन्होंने स्वय अन्तर्भाष्यकी गाथाओंको उद्धृत करके तदनुसार गुणस्थानोंमें वेदनीय गोत्र और आयु कर्मके भंग बतलाये हैं। यद्यपि सूत्रकारने वेदनीय, आयु और गोत्र इस क्रमसे विभाग करनेका निर्देश किया है किन्तु अन्तर्भाष्यगाथामें पहले वेदनीय और गोत्रके भग बतलाये हैं। अत यहा भी इसी क्रमसे खुलासा किया जाता है। अन्तर्भाष्यमें लिखा है—

'चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा।
गोए पण चउ दो तिसु एगट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥'

अर्थात् 'वेदनीय कर्मके छह गुणस्थानोंमें चार, सातवेंमें दो और एकमें चार भग होते हैं। तथा गोत्र कर्मके मिथ्यात्वमें पाच, सास्वादनमें चार, मिश्र आदि तीनमें दो प्रमत्तादि आठमें एक और अयोगिकेवली में एक भग होता है ॥'

बात यह है कि बन्ध और उदय की अपेक्षा साता और असाता ये प्रतिपक्षभूत प्रकृतिया हैं। इनमें से एक कालमें किसी एक का बन्ध और किसी एकका ही उदय होता है किन्तु दोनोंका एक साथ सत्ताके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं है। दूसरे असाता का बन्ध प्रारम्भके छह गुणस्थानोंमें ही होता है आगे नहीं, अत प्रारम्भके छह गुणस्थानोंमें निम्न चार भग प्राप्त होते हैं। यथा—(१) असाताका बन्ध, अमातारा उदय और साता असाताका सत्त्व, (२) असाताका बन्ध, साताका उदय और असाता का सत्त्व (३) साताका बन्ध, असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व तथा (४) मालाका बन्ध, साताका उदय और साता असाताका सत्त्व। सातवें गुणस्थानसे तेरहवें तक बन्ध केवल साताका ही होता है किन्तु उदय और सत्त्व दोनोंका पाया जाता है, अत इन गुणस्थानोंमें निम्न दो भंग प्राप्त होते हैं। यथा—(१) साताका बन्ध, साताका उदय और साता असाताका सत्त्व (२) साताका बन्ध असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व। अयोगिकेवली गुणस्थानमें साताका भी बन्ध नहीं होता अतएव यहा बन्धकी अपेक्षा कोई भग न प्राप्त होकर उदय और सत्त्वकी अपेक्षा दो भग प्राप्त होते हैं। फिर भी जिसके इस गुणस्थानमें असाताका उदय है उसके उपान्त्य समयमें साताका सत्त्व नाश हो [illegible] है और जिसके साताका उदय है उसके उपान्त्य समयमें

असाताका सत्त्वनाश हो जाता है अत इस गुणस्थानमें उपान्त्य समय तक (१) साताका उदय और साता असाताका सत्त्व तथा (२) असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व ये दो भग प्राप्त होते हैं और अन्तिम समयमें (३) साता का उदय और साताका सत्त्व तथा (४) असाताका उदय और असाताका सत्त्व ये दो भग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार गुणस्थानोंमें वेदनीयके भगों का कथन किया। अब गोत्र कर्मके भगोंका विचार करते हैं—गोत्र कर्मके विपयमें एक विशेषता तो यह है कि साता और असाताके समान बन्ध और उदयकी अपेक्षा उच्च और नीच गोत्र भी प्रतिपक्षभूत प्रकृतियां हैं। एक कालमें इनमें से किसी एक का ही बन्ध और एकका ही उदय होता है किन्तु सत्त्व दोनोंका एक साथ पाया जाता है। तथा दूसरी विशेषता यह है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके उच्चगोत्र की उद्वलना होने पर बन्ध, उदय और सत्त्व एक नीच गोत्रका ही होता है और जिनमे ऐसे अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्पन्न होते हैं उनके भी कुछ काल तक बन्ध, उदय और सत्त्व नीच गोत्र का ही होता है। अब यहाँ इन दोनों विशेषताओं को ध्यानमे रख कर मिथ्यात्व गुणस्थानमें भगोंका विचार करते हैं तो निम्न पाच भग प्राप्त होते हैं। यथा—(१) नीचका बन्ध, नीचका उदय तथा नीच और उच्च का सत्त्व (२) नीचका बन्ध, उच्च का उदय तथा नीच और उच्चका सत्त्व (३) उच्चका बन्ध, उच्चका उदय तथा उच्च और नीचका सत्त्व। (४) उच्चका बन्ध, नीचका उदय, तथा उच्च और नीचका सत्त्व। तथा (५) नीचका बन्ध, नीचका उदय और नीचका सत्त्व। नीच गोत्रका बन्ध सासादन गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि मिश्र आदि गुणस्थानोंमें एक उच्च गोत्र का ही

बन्ध पाया जाता है। इससे यह मतलब निकला कि मिथ्यात्वके समान सास्वादनमें भी किसी एक का बन्ध, किसी एक का उदय और दोनों का सत्त्व बन जाता है। इस हिसाबसे यहाँ चार भंग प्राप्त होते हैं। ये भंग वे ही हैं जिनका मिथ्यात्वमें क्रम नम्बर १, २ ३ और ४ में उल्लेख कर आये हैं। तीसरे से लेकर पाँचवें तक बंध एक उच्च गोत्र का ही होता है किन्तु उदय और सत्त्व दोनों का पाया जाता है इसलिए इन तीन गुणस्थानोंमें (१) उच्चका बन्ध, उच्चका उदय और नीच उच्चका सत्त्व तथा (२) उच्च का बन्ध, नीच का उदय और नीच-उच्च का सत्त्व ये दो भंग पाये जाते हैं। कितने ही आचार्योंका यह भी मत है कि पाचवें गुणस्थान में उच्चका बन्ध, उच्च का उदय और उच्च नीचका सत्त्व यही एक भंग होता है। इस विषयमें आगमका भी वचन है। यथा—

'सामन्नेण संयजाइए उच्चागोयस्स उदओ होइ।'

अर्थात् 'सामान्य से संयत और संयतासंयत जातिवाले जीवों के उच्च गोत्रका उदय होता है।'

छठे से लेकर दसवें गुणस्थान तक ही उच्चगोत्र का बंध होता है, अतः इनमें उच्चका बन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीचका सत्त्व यह एक भंग प्राप्त होता है। और ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें इन तीन गुणस्थानोंमें उच्चका उदय और उच्च-नीचका सत्त्व यह एक भंग प्राप्त होता है। इस प्रकार छठेसे लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में एक भंग होता है यह सिद्ध हुआ। तथा अयोगिकेवली गुणस्थानमें नीच गोत्रका सत्त्व उपान्त्य समय तक ही होता है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानमें यह उदयरूप प्रकृति न ... उपान्त्य समय में ही इसका स्तिबुक संक्रमणके द्वारा उच्च

गोत्ररूपसे परिणमन हो जाता है अत इस गुणस्थानके उपान्त्य समय तक उच्चका उदय और उच्च नीचका सत्त्व यह एक भग होता है। तथा अन्त समयमे उच्चका उदय और उच्चका सत्त्व यह एक भग होता है। इस प्रकार गुणस्थानोमें गोत्र कर्मके भगोंका विचार किया।

अब आयुकर्म के भगोंका विचार करते हैं। इस विषयमें अन्तर्भाष्य गाथा निम्न प्रकार है—

'अट्ठच्छाहिगवीसा सोलह वीस च बार छदोसु।

दो चउसु तीसु एक्क मिच्छाइसु आउगे भगा॥'

अर्थात्–'मिथ्यात्वमे २८, सास्वादनमें २६, मिश्रमें १६, अविरत सम्यग्दृष्टिमें २०, देशविरतमें १२, प्रमत्त और अप्रत्तमें ६, अपूर्वादि चारमें २ और क्षीणमोह आदि तीनमें १ इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोमे आयु कर्मके भग होते हैं।'

नारकियोंके पाच, तिर्यचोंके नौ, मनुष्योंके नौ और देवोंके पाच इस प्रकार आयुकर्मके २८ भग पहले बतला आये हैं वे सब भग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें सम्भव हैं, अत यहाँ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें २८ भग कहे। सास्वादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य नरकायुका बन्ध नहीं करते, क्योंकि नरकायुका बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है, अत उपर्युक्त २८ भगोंमें से (१) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान नरकायु तथा तिर्यंच नरकायुका सत्त्व (२) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु तथा मनुष्य-नरकायुका सत्त्व ये दो भग कम

होकर सास्वादन गुणस्थानमें २६ भग प्राप्त होते हैं। मिश्र गुणस्थान म परभव सम्बन्धी किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता अत यहाँ २८ भगोम से बन्धकालमें प्राप्त होने वाले नारकियोंके दो तिर्यंचोंके चार, मनुष्योंके चार और देवोंके दो इस प्रकार १२ भग कम होकर १६ भग प्राप्त होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें तिर्यंच और मनुष्याम से प्रत्येकके नरक, तिर्यंच और मनुष्यायुका बन्ध नहीं होता तथा देव और नारकियोंमें प्रत्येकके तिर्यंचायुका बन्ध नहीं होता, अत २८ भगोंम से ये ८ भग कम होकर इस गुणस्थानमे २० भग प्राप्त होते हैं। देशविरति तिर्यंच और मनुष्योंके ही होती है और यदि ये परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध करते हैं तो देवायुका ही बन्ध करते हैं अन्य आयुका नहीं, क्योंकि देश विरतमें देवायुको छोड़कर अन्य आयुका बन्ध नहीं होता। अत इनके आयुबन्ध के पहले एक एक ही भग होता है और आयु बन्धके कालमें भी एक एक ही भग होता है इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्य दोनोंके मिलाकर चार भग तो ये हुए। तथा उपरत बन्ध की अपेक्षा तिर्यंचों के भी चार भग प्राप्त होते हैं और मनुष्योंके भी चार भग प्राप्त होते हैं क्योंकि चारों गति सम्बन्धी आयुका बन्ध करनेके पश्चात् तिर्यंच और मनुष्योंके देशविरत गुणस्थानके प्राप्त होनेमे किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। इस प्रकार आठ भग ये हुए। कुल मिलाकर देशविरत गुणस्थानमे १२ भग हुए। प्रमत्त और अप्रमत्त सयत मनुष्य ही होते हैं और ये ... बाँधते हैं अत इनके आयुबन्धके पहले एक भग

होता है और आयुबन्धके कालमें भी एक ही भग होता है। तथा उपरत बन्ध की अपेक्षा यहाँ चार भग और होते हैं, क्योंकि चारों गति सम्बन्धी आयुबन्ध के पश्चात् प्रमत्त और अप्रमत्त सयत गुणस्थानोंके प्राप्त होनेमें कोई बाधा नहीं है। कुल मिलाकर ये छ भग हुए। इस प्रकार प्रमत्तसयतमें छह और अप्रमत्तसयतमें छह भग प्राप्त होते हैं। आगे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें आयुका बन्ध तो नहीं होता किन्तु जिसने देवायुका बन्ध कर लिया है ऐसा मनुष्य उपशमश्रेणी पर आरोहण कर सकता है। किन्तु जिसने देवायुको छोड़कर अन्य आयुओंका बन्ध किया है वह उपशमश्रेणि पर आरोहण नहीं करता। कर्मप्रकृतिमें भी कहा है—

'तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ।'

'चूंकि तीन आयुओंका बन्ध करनेके पश्चात् जीव श्रेणि पर आरोहण नहीं करता।'

अत उपशमश्रेणिकी अपेक्षा अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों में दो दो भग होते हैं। किन्तु क्षपकश्रेणिकी अपेक्षा अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानोंमें मनुष्यायुका उदय और मनुष्यायुका सत्त्व यही एक भग होता है। तथा क्षीणमोह आदि तीन गुण स्थानोंमें भी मनुष्यायुका उदय और मनुष्यायुका सत्त्व यही एक भग होता है इस प्रकार किस गुणस्थानमें आयु कर्मके कितने भग होते हैं इसका विचार किया। इस प्रकार 'वेयणियाउयगोए विभज्ज' इस गाथाशका व्याख्यान समाप्त हुआ।

१४ गुणस्थानोंमें छह कर्मोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक—

[२९]

गुणस्थान	ज्ञानावरण	दर्शनाव०	वेदनीय	आयु	गोत्र	अन्तराय
मिथ्या०	१	२	४	२८	५	१
सास्वा०	१	२	४	२६	४	१
मिश्र०	१	२	४	१६	२	१
अविरत०	१	२	४	२०	२	१
देशवि०	१	२	४	१२	२	१
प्रमत्त०	१	२	४	६	१	१
अप्रमत्त०	१	२	४	६	१	१
अपूर्वक०	१	४	२	२	१	१
अनिवृ०	१	३	२	२	१	१
सूक्ष्म०	१	३	२	२	१	१
उपशान्त०	१	२	२	२	१	१
क्षीणमो०	१	२	२	१	१	१
सयोगिके०	०	०	२	१	१	०
	०	०	४	१	२	०

अब पूर्व सूचनानुसार गुणस्थानोंमें मोहनीयके भगोंका विचार करते हैं उसमें भी पहले बन्धस्थानोंके भगोंको बतलाते हैं—

गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु।
पंचानियट्टिठाणे बंधोवरमो परं तत्तो ॥ ४२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वादि आठ गुणस्थानोंमें मोहनीयके बन्धस्थानोंमेंसे एक एक बन्धस्थान होता है। तथा अनिवृत्तिकरणमें पाच बन्धस्थान होते हैं। तदनन्तर अगले गुणस्थानोंमें बन्धका अभाव है।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें एक २२ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। सासादनमें एक २१ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें एक १७ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। देशविरतमें एक १३ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत और अपूर्वकरणमें एक ९ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ इतना विशेष है कि अरति और शोक की बन्धव्युच्छित्ति प्रमत्तसयत गुणस्थानमें ही हो जाती है, अत अप्रमत्तसयत और अपूर्वकरणके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक एक ही भग प्राप्त होता है। पहले जो ९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २ भग कह आये हैं वे प्रमत्तसयत गुणस्थानकी अपेक्षा कहे हैं। अनिवृत्तिकरणमें ५, ४, ३, २ और १ ये पाच बन्धस्थान होते हैं। तथा आगेके गुणस्थानोंमें मोहनीयका बन्ध नहीं होता, अत उसका निषेध किया है।

अब गुणस्थानोंमें मोहनीयके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायणमीसए नवुक्कोसा।
छाई नव उ अविरए देसे पंचाइ अट्ठेव ॥ ४३ ॥

विरए खओवसमिए चउराई सत्त छच्चऽपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण इक्को व दुवे व उदयसा ॥ ४४ ॥
एग सुहुमसरागो वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भगाण च पमाण पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्व ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वमे ७ से लेकर १० तक ४, सास्वादन और मिश्रमें ७से लेकर ९ तक ३, अविरत सम्यक्त्वमें ६से लेकर ९ तक ४, देशविरतमें ५ से लेकर ८ तक ४, प्रमत्त और अप्रमत्तविरतमें ४ से लेकर ७ तक ४, अपूर्वकरणमें ४ से लेकर ६ तक ३ और अनिवृत्तिबादर सम्परायमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो उदयस्थान होते हैं। तथा सूक्ष्मसम्पराय जीव एक प्रकृतिका वेदन करता है और शेप गुणस्थानवाले जीव अवेदक होते हैं। इनके भगों का प्रमाण पहले कहे अनुसार जानना चाहिये।

विशेषार्थ—मोहनीयकी कुल उत्तरप्रकृतिया २८ हैं। उनमेंसे एक साथ अधिक से अधिक १० प्रकृतियोंका और कमसे कम १ प्रकृति का एक कालमें उदय होता है। इस प्रकार १ से लेकर १० तक १० उदयस्थान प्राप्त होते हैं किन्तु केवल ३ प्रकृतियों का

(१) 'मिच्छे सगाइचउरो सासणमीसे सगाइ तिण्णुदया। छप्पचचउ पुव्वा तिग चउरो अविरयाईण ॥' पञ्च० सप्त० गा० २६ 'सत्तादि दसदु मिच्छे सासण मिस्सए णवुक्कस्सं। छादी य णवुक्कस्सं अविरदसम्मत्तमादिस्स ॥ पचादि अट्ठणिहणा विरदाविरदे उदीरणट्ठाणा। एगादी तिगरहिदा सत्तुक्कस्सा य विरदस्स ॥' धव० उद० आ० प० १०२२। दसणवणवादि चउतियतिट्ठाणा णवट्ठसगसगादि चऊ। ठाणा छादि तिय च य चदुवीसगदा अपुव्वो त्ति ॥४८०॥ उदयट्ठाणं दोण्हं पणबंधे होदि दोण्हमे ।.. चदुविहबधट्ठाणे सेसेसेयं हवे ठाणं ॥ ४८२ ॥' गो० कर्म०।

उदय कहीं प्राप्त नहीं होता अत ३ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया और इसलिए मोहनीयके कुल उदयस्थान ६ बतलाये हैं। ४४ नम्बरकी गाथामें 'विरए खओवसमिए' पद आया है, जिसका अर्थ 'क्षायोपशमिक विरत' होता है। सो इससे यहाँ प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत लेना चाहिये, क्योंकि क्षायोपशमिक विरत यह सज्ञा इन दो गुणस्थानवाले जीवोंकी ही है। इसके आगे जीवकी या तो उपशामक सज्ञा हो जाती है या क्षपक। जो उपशम श्रेणि पर चढता है वह उपशामक और जो क्षपक श्रेणिपर चढता है वह क्षपक कहलाता है। इनमें से किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंके कितने उदयस्थान होते हैं इसका स्पष्ट निर्देश गाथामें किया ही है। हम भी इन उदयस्थानों की सामान्य विवेचना करते समय उनका विशेष खुलासा कर आये हैं इसलिये यहाँ इस विषय में अधिक न लिखकर केवल गाथाओं के अर्थका स्पष्टीकरण-मात्र किये देते है—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ७, ८, ९, और १० प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहा इनके भगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। सास्वादन और मिश्र में ७, ८, और ६ प्रकृतिक तीन तीन उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भगोंकी क्रमसे ४ और ४ चौबीसी प्राप्त होती हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानम ६, ७, ८ और ६ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। देशविरत गुणस्थानमें ५, ६, ७ और ८ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहा इनके भगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानमे ४,

५, ६, और ७ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहा इनके भगोंकी क्रमश आठ चौबीसी प्राप्त होती हैं। अपूर्वकरण गुणस्थानमे ४, ५, और ६ प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भगोंकी चार चौबीसी प्राप्त होती हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो उदयस्थान होते हैं। यहाँ दो प्रकृतिक उदयस्थानमें क्रोधादि चारमेंसे कोई एक और तीन वेदोंमेंसे कोइ एक इस प्रकार दो प्रकृतियोंका उदय होता है। सो यहाँ तीन वेदोंसे सज्वलन क्रोधादि चारको गुणित करने पर १२ भग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर वेदकी उदयव्युच्छित्ति हो जाने पर एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो चार तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धके समय प्राप्त होता है। यद्यपि एक प्रकृतिक उदयमें चार, प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा चार तीन प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा तीन, दो प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा दो और एक प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा एक इस प्रकार कुल १० भग कह आये हैं किन्तु यहा बन्धस्थानोके भेदकी अपेक्षा न करके कुल ४ भग ही विवक्षित हैं। तथा सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें एक सूक्ष्म लोभका उदय होता है अत यहा एक ही भग है। इस प्रकार एक प्रकृतिक उदय में कुल पाँच भग होते हैं। इसके आगे उपशान्त मोह आदि गुणस्थानोंमें मोहनीयका उदय नहीं होता अत उनमें उदयकी अपेक्षा एक भी भग नहीं होता। इस प्रकार यहाँ उक्त गाथाओंके निर्देशानुसार किस गुणस्थानमें कौन और उनके कितने भंग होते हैं इसका विचार

किया। अन्तिम गाथामें जो भगोंका प्रमाण पूर्वोद्दिष्ट क्रमसे जानने की सूचना की है सो उसका इतना ही मतलब है कि जिस प्रकार पहले सामान्यसे मोहनीयके उदयस्थानोंका कथन करते समय उनके भग बतला आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी उनका प्रमाण समझ लेना चाहिये जिनका निर्देश हमने प्रत्येक गुणस्थानके उदयस्थान बतलाते समय किया ही है।

अब मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा दससे लेकर एक पर्यन्त गुणस्थानोंमें अगली गाथा द्वारा भगोंकी सख्या बतलाते हैं—

एक्कं छड्केक्कारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि।
एए चउवीसगया बार दुगे पच एक्कम्मि ॥ ४६ ॥

अर्थ—१० से लेकर ४ प्रकृतिक तकके उदयस्थानोंमें क्रमसे एक, छह, ग्यारह, ग्यारह, ग्यारह, नौ और तीन चौबीसी भग होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें पाँच भग होते हैं।

विशेषार्थ—दस प्रकृतिक उदयस्थान एक ही है अत इसमें भगोंकी एक चौबीसी कही। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह हैं अत इसमें भगोंकी छह चौबीसी कहीं। ८ ७ और ६ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह ग्यारह हैं अत इनमें भगोंकी ग्यारह ग्यारह चौबीसी कहीं। पाच प्रकृतिक उदयस्थान नौ हैं अत इनमें भगोंकी नौ चौबीसी कहीं और चार प्रकृतिक उदयस्थान तीन हैं अत इनमें भगोंकी तीन चौबीसी कहीं। तथा दो प्रकृतिक और एकप्रकृतिक

(१) एक्क य छक्केयार एयारेयारसेव णव तिण्णि। एदे चउवीसगदा चदुवीसेयार दुगठाणे ॥ गो० कर्म० गा० ४८१।

उदयस्थानमें क्रमसे बारह और पांच भग होते हैं इसका स्पष्टीकरण पहले कर ही आये हैं अत इन दो उदयस्थानोंमें क्रमसे १२ और ५ भग कहे। इस प्रकार सब उदयस्थानों में कुल मिलाकर ५२ चौबीसी और १७ भग प्राप्त होते हैं। इन्हीं भगोंका गुणस्थानोंकी अपेक्षा अन्तर्भाष्य गाथामें निम्नप्रकारसे विवेचन किया गया है—

'अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वता बारस पणगं च अनियट्टे ॥'

अर्थात्—'मिथ्यादृष्टिसे लेकर अपूर्वकरण तक आठ गुणस्थानोंमें भगोंकी क्रमसे आठ चार चार, आठ आठ, आठ आठ और चार चौबीसी होती हैं तथा अनिवृत्तिकरणमें १२ और ५ भग होते हैं।'

इस प्रकार भगोंके प्राप्त होने पर १२६५ उदय विकल्प और ८४४७ पदवृन्द प्राप्त होते हैं जिनसे सब ससारी जीव मोहित हो रहे हैं क्योंकि ५२ को २४ से गुणित कर देने पर जो १२४८ प्राप्त हुए उनमें १७ और जोड़ देने पर कुल उदयविकल्पोंकी कुल सख्या १२६५ ही प्राप्त होती है। तथा १० से लेकर ४ प्रकृतिक उदयस्थान तकके सब पद ३५२ होते हैं अत इन्हें २४ से गुणित कर देने पर ८४४८ प्राप्त हुए। तदनन्तर इनमें दो प्रकृतिक उदय स्थानके २ × १२ = २४ और एक प्रकृतिक उदयस्थानके ५ इसप्रकार २९ और मिला देने से पदवृन्दोंकी कुल सख्या ८४७७ प्राप्त होती है। कहा भी है—

'बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीइसत्तत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥'

अर्थात्—'ये ससारी जीव १२६५ उदय विकल्पोंसे और ८४७७ पद वृन्दोंसे मोहित हो रहे हैं।'

गुणस्थानों की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३०]

गुणस्थान	उदयस्थान	भंग
मिथ्यात्व	७, ८, ९ १०	८ चौबीसी
सासादन	७, ८, ९	४ चौबीसी
मिश्र	७ ८, ९	४ चौबीसी
अविरत०	६ ७, ८ ९	८ चौबीसी
देशविरत	५, ६, ७, ८	८ चौबीसी
प्रमत्त०	४, ५, ६ ७	८ चौबीसी
अप्रमत्त०	४, ५, ६, ७,	८ चौबीसी
अपूर्व०	४, ५, ६,	४ चौबीसी
अनिवृ०	२, १	१६
सूक्ष्म०	१	१

१२६५ उदयविकल्प

गुणस्थानों की अपेक्षा पदवृन्दों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३१]

गुणस्थान	गुण्य (पद)	गुणकार	गुणनफल (पदवृंद)
मिथ्यात्व	६८	२४	१६३२
सास्वा०	३२	२४	७६८
मिश्र	३२	२४	७६८
अविरत	६०	२४	१४४०
देशवि०	५२	२४	१२४८
प्रमत्त०	४४	२४	१०५६
अप्रमत्त०	४४	२४	१०५६
अपूर्व	२०	२४	४८०
अनिवृ०	२ १	१२ ४	२४ ४
सूक्ष्म०	१	१	१

८४७७ पदवृन्द

१३. योग, उपयोग और लेश्याओंमें संवेध भङ्ग

अब योग और उपयोगादिकी अपेक्षा इन भंगोंका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥४७॥

अर्थ—इन उदयभंगोंको योग, उपयोग और लेश्या आदि से गुणित करना चाहिये। इसके लिये जिस गुणस्थानमें जितने योगादि हों वहाँ गुणकारकी संख्या उतनी होती है॥

विशेषार्थ—किस गुणस्थानमें कितने उदय विकल्प और कितने पदवृन्द होते हैं इनका निर्देश पहले कर हो आये हैं। किन्तु अभीतक यह नहीं बतलाया कि योग, उपयोग और लेश्या आदि की अपेक्षा उनकी संख्या कितनी हो जाती है, अतः आगे इसी बातके बतानेका प्रयत्न किया जाता है।

इस विषयमें सामान्य नियम तो यह है कि जिस गुणस्थानमें योगादिक की जितनी संख्या हो उससे उस गुणस्थानके उदय-विकल्प और पदवृन्दों को गुणित कर देने पर योगादिकी अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थानमें उदयविकल्प और पदवृन्द आ जाते हैं। अतः

---

(१) 'एव जोगुवओगा लेसाई भेयओ बहूभेया। जा जस्स जमि उ गुणे संखा सा तमि गुणगारो ॥'—पञ्च० सप्त० गा० ११७। 'उदयट्ठाणं पयडिं सगसगउवजोगजोगआदीहिं। गुणयित्ता मेलावेदे पदसंखा पयडिसंखा य ॥'—गो० कर्म० गा० ४९० ॥

यह जानना जरूरी है कि किस गुणस्थानमें कितने योगादिक होते हैं। परन्तु एक साथ इनका कथन करना अशक्य है अतः पहले योगकी अपेक्षा विचार करते हैं—मिथ्यात्व गुणस्थानमें १३ योग और भंगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। सो इनमेंसे चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक काययोग, और वैक्रियकाययोग इन दस योगोंमेंसे प्रत्येक में भंगोंकी आठो चौबीसी होती हैं अतः १० से ८ को गुणित करने पर ८० चौबीसी हुई। किन्तु औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग इनमें अनन्तानुबन्धीकी उदयवाली ही चार चौबीसी प्राप्त होती हैं, क्यों कि ऐसा नियम है कि अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी विसंयोजना करनेपर जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें जाता है उसका जब तक अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं होता तब तक मरण नहीं होता, अतः यहां इन तीन योगोंमें अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित चार चौबीसी सम्भव नहीं। विशेष खुलासा इस प्रकार है कि जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की है ऐसा जीव जब मिथ्यात्वको प्राप्त होता है। तब उसके अनन्तानुबन्धी चतुष्कका बन्ध और अन्य सजातीय प्रकृतियोंका अनन्तानुबन्धीरूपसे संक्रमण तो पहले समयसे ही होने लगता है किन्तु अनन्तानुबन्धीका उदय एक आवलि कालके पश्चात् होता है। ऐसे जीवका अनन्तानुबन्धीका उदय होने पर ही मरण होता है पहले नहीं अतः उक्त तीनों योगोंमें अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित ४ चौबीसी नहीं पाई जातीं। इस प्रकार इन तीनों योगोंमें भंगोंकी कुल चौबीसी १२ हुई। इनको पूर्वोक्त ८० चौबीसियोंमें मिला देने पर मिथ्यात्व गुणस्थानमें भंगोंकी कुल ९२ चौबीसी प्राप्त होती हैं। जिनके कुल भंग २२०८ होते हैं। सास्वादनमें १३ योग और भंगोंकी ४ चौबीसी होती हैं। इसलिये कुल भंगोंकी ५२ चौबीसी होनी चाहिये

थी। किन्तु सास्वादनके वैक्रिय मिश्रकाययोगमें नपुसकवेदका उदय नहीं होता, अत १२ योगोंकी तो ४८ चौबीसी हुईं और वैक्रिय मिश्रके ४ षोडशक हुए। इस प्रकार यहा सब भग १२१६ होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, औदारिककाययोग और वैक्रियकाययोग ये १० योग और भगोंकी ४ चौबीसी होती है, अत ४ चौबीसी को १० से गुणित करने पर यहा कुल भग ९६० होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें १३ योग और भगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि चौथे गुणस्थानके वैक्रियमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोगमें स्त्रीवेद नहीं होता, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीवेदियोंमें नहीं उत्पन्न होता। इसलिये इन दो योगोंमें भगोंकी आठ चौबीसी प्राप्त न होकर आठ षोडशक प्राप्त होते हैं। यहा पर मलयगिरि आचार्य लिखते हैं कि स्त्रीवेदी सम्यग्दृष्टि जीव वैक्रियमिश्रकाय योगी और कार्मण काययोगी नहीं होता यह कथन बहुलताकी अपेक्षासे किया है। वैसे तो कदाचित् इनमें भी स्त्रीवेदके साथ सम्यग्दृष्टियोंका उत्पाद देखा जाता है इसके लिये उन्होंने चूर्णिका निम्न वाक्य उद्धृत किया है। यथा—

'कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि।'

अर्थात्—'कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीवेदियोंमें भी उत्पन्न होता है।'

---

(१) दिगम्बर परपरामें यही एक मत मिलता है कि स्त्री वेदियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता।

तथा चौथे गुणस्थानके औदारिकमिश्रकाययोगमें स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नहीं होता क्योंकि स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी तिर्यंच और मनुष्योंमें अविरत सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते, अतः औदारिकमिश्रकाययोगमें भंगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त न होकर आठ अष्टक प्राप्त होते हैं। यहाँ पर भी मलयगिरि आचार्य अपनी टीकामें लिखते हैं कि स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी सम्यग्दृष्टि जीव औदारिक मिश्रकाययोगी नहीं होता यह बहुलताकी अपेक्षासे कहा है। इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें कुल २२४० भंग प्राप्त होते हैं। देशविरतमें औदारिकमिश्र कार्मणकाययोग और आहारकद्विकके बिना ११ योग और भंगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। यहाँ प्रत्येक योगमें भंगोंकी ८ चौबीसी सम्भव हैं अतः यहाँ कुल भंग २११२ होते हैं। प्रमत्तसंयतमें औदारिकमिश्र और कार्मणके बिना १३ योग और ८ भंगोंकी चौबीसी होती हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि स्त्रीवेदमें आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग नहीं होता, क्योंकि आहारक समुद्घात चौदह पूर्वधारी जीव ही करते हैं। परन्तु स्त्रियोंके चौदह पूर्वोंका ज्ञान नहीं पाया जाता। कहा भी है—

> तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला य धीईए।'
> इय अइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो थीए॥'

अर्थात्—'स्त्रीवेदी जीव तुच्छ, गारवबहुल, चपल इन्द्रिय और बुद्धिसे दुर्बल होते हैं अतः वे बहुत अध्ययन करनेमें समर्थ नहीं हैं और उनके दृष्टिवाद अंगका भी ज्ञान नहीं पाया जाता।'

इसलिये ११ योगोंमें तो भंगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं किन्तु आहारक और आहारकमिश्रकाययोगमें भंगोंके कुल ८ षोडशक ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल भंग २३०८ होते हैं। अप्रमत्तसंयतमें ४ मनोयोग, ४ वचनयोग औदारिक काययोग, वैक्रियकाययोग और आहारकाययोग ये ११ योग और भंगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। किन्तु आहारक काययोगमें स्त्रीवेद नहीं है, अतः यहाँ १० योगोंमें भंगोंकी ८ चौबीसी और आहारककाययोगमें ८ षोडशक प्राप्त होते हैं इस प्रकार यहाँ कुल भंग २०४८ होते हैं। जो जीव प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें वैक्रियकाययोग और आहारककाययोगको प्राप्त करके अप्रमत्तसंयत हो जाता है उनके अप्रमत्तसंयत अवस्थाके रहते हुए ये दो योग होते हैं। वैसे अप्रमत्तसंयत जीव वैक्रिय और आहारक समुद्घातका प्रारम्भ नहीं करता, अतः इस गुणस्थानमें वैक्रिय मिश्रकाययोग और आहारक मिश्रकाययोग नहीं कहा। अपूर्वकरण गुणस्थानमें ९ योग और ४ चौबीसी होती हैं, अतः यहाँ कुल भंग ८६४ होते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें योग ९ और भंग १६ होते हैं, अतः १६ से ९ के गुणित करने पर यहाँ कुल १४४ भंग प्राप्त होते हैं। तथा सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें योग ९ और भंग १ है। अतः यहाँ कुल ९ भंग प्राप्त होते हैं। अब यदि उपर्युक्त दसों गुणस्थानोंके कुल भंग जोड़ दिये जाते हैं तो उनका कुल प्रमाण १४१९९ होता है। कहा भी है—

चउदस य सहस्साइं सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं।[1]

अर्थात्— योगोंकी अपेक्षा मोहनीयके कुल उदय विकल्पोंका प्रमाण १४१९९ होता है।'

(१) पञ्च सं० सप्त० गा० १२०।

योगों की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३२]

गुणस्थान	योग	गुणाकार	
मिथ्यात्व	१० ३	८×२४=१९२ ४×२४=९६	१९२० २८८
सास्वादन	१० १	४×२४=९६ ४×१६=६४	११५२ ६४
मिश्र	१०	४×२४=९६	९६०
अविरत०	१० [illegible] १	८×२४=१९२ ८×१६=१२८ ८×८=६४	१९२० ५६ ६४
देशविरत	११	८×२४=१९२	२११२
प्रमत्त०	११ २	८×२४=१९२ ८×१६=१२८	२११२ २५६
अप्रमत्त०	१० १	८×२४=१९२ ८×१६=१२८	१९२० १२८
अपूर्वकरण	९	४×२४=९६	८६४
अनिवृत्ति०	९	१६	१४४
सूक्ष्मसंपराय०	९	१	९
			१४१९९

अब योगोंकी अपेक्षा पदवृन्दोंका विचार अवसर प्राप्त है सो इसके लिये पहले अन्तर्भाष्य गाथा उद्धृत करते हैं।—

'अट्ठट्ठी बत्तीसं बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना।
चोयाल चोयाल वीसा वि य मिच्छमाईसु॥'

अर्थात्—'मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें क्रमसे अरसठ, बत्तीस, साठ, बत्तीस, साठ बावन, चवालीस, चवालीस और बीस उदयपद होते हैं।'

यहाँ उदयपदसे उदयस्थानों की प्रकृतियाँ ली गई हैं। जैसे, मिथ्यात्वमें १०, ९ ८ और ७ ये चार उदयस्थान हैं। सो इनमसे १० उदयस्थान एक है अत इसकी १० प्रकृतियाँ हुईं। ९ प्रकृतिक उदय स्थान तीन हैं अत इसकी २७ प्रकृतियाँ हुईं। ८ प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन हैं अत इसकी २४ प्रकृतियाँ हुईं। और ७ प्रकृतिक उदयस्थान एक है अत इसकी ७ प्रकृतियाँ हुईं। इस प्रकार मिथ्यात्वमें ४ उदयस्थानों की ६८ प्रकृतियाँ होती हैं। सास्वादन आदिमें जो ३२ आदि उदयपद बतलाये हैं उनका भी रहस्य इसी प्रकार समझना चाहिये। अब यदि इन आठ गुणस्थानोंके सब उदयपदोंको जोड़ दिया जाय तो उनका कुल प्रमाण ३५२ होता है। किन्तु इनमें से प्रत्येक उदयपदमें चौबीस चौबीस भङ्ग होते हैं अत ३५२ को २४ से गुणित कर देने पर ८४४८ प्राप्त होते हैं। यह विवेचन अपूर्वकरण गुणस्थानतक का है अभी अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान का विचार शेष है अत इन दो गुणस्थानों के २९ भङ्ग पूर्वोक्त सख्यामें मिला देने पर कुल ८४७७ प्राप्त होते हैं। इस प्रकार योगादिक की अपेक्षाके बिना मोहनीयके कुल पदवृन्द ८४७७ होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब जब कि हम योगोंकी अपेक्षा दसों गुणस्थानोंमें पदवृन्द लाना चाहते हैं तो हमें दो बातों पर विशेष ध्यान देना होगा। एक तो यह कि किस गुण-

हैं। प्रमत्तसंयत में योग १३ और पद ४४ हैं। किन्तु आहारकद्विक में स्त्रीवेद का उदय नहीं होता इसलिये ११ योगों की अपेक्षा तो ११ को ४४ से गुणित करके २४ से गुणित करे और आहारकद्विक की अपेक्षा २ से ४४ का गुणित करके १६ से गुणित करे। इस प्रकार क्रिया के करने पर प्रमत्तसंयतमें कुल पदवृन्द १३०२४ प्राप्त होते हैं। अप्रमत्त संयतमें योग ११ और पद ४४ हैं किन्तु आहारक काययोगमें स्त्रीवेदका उदय नहीं होता इसलिये १० योगोंकी अपेक्षा १० से ४४ को गुणित करके २४ से गुणित करे और आहारककाययोग की अपेक्षा ४४से १६ को गुणित करे। इस प्रकार करने पर अप्रमत्त संयतमें कुल पदवृन्द ११२६४ होते हैं। अपूर्वकरणमें योग ६ और पद २० होते हैं अत २० से ६ को गुणित करके २४ से गुणित करने पर यहाँ कुल पदवृन्द ४३२० प्राप्त होते हैं। अनिवृत्तिकरणमें योग ६ और भङ्ग २८ हैं। यहाँ योगपद नहीं हैं अत पद न कह कर भग कहे हैं। सो ६ से २८ को गुणित कर देने पर अनिवृत्तिकरणमें २५२ पदवृन्द होते हैं। तथा सूक्ष्म सम्परायमें योग ६ और भग १ है। अत ६ से १ को गुणित करने करने पर ६ भग होते हैं। अब प्रत्येक गुणस्थानके इन पदवृन्दों को जोड देने पर सब पदवृन्दोंकी कुल संख्या ६५७१७ होती है। कहा भी है—

'सत्तरसा सत्तसया पणनउइसहस्स पयसंखा।'[1]

अर्थात्—'योगोंकी अपेक्षा मोहनीयके सब पदवृन्द पचानवे हजार सातसौ सत्रह होते हैं।'

---

(१) पञ्च सप्त० गा० ११०।

योगों की अपेक्षा पदवृन्दों का ज्ञापक कोष्टक—

[३३]

गुणस्थान	योग	उदयपद	गुणाकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	१३	३६	२४	११२३२
	१०	३२	२४	७६८०
सासादन	१२	३२	२४	९२१६
	१	३२	१६	५१२
मिश्र	१०	३२	२४	७६८०
अविरत॰	१०	६०	२४	१४४००
	२	६०	१६	१९२०
	१	६०	८	४८०
देशवि॰	११	५२	२४	१३७२८
प्रमत्तसंयत	११	४४	२४	११६१६
	२	४४	१६	१४०८
अप्रमत्तस॰	१०	४४	२४	१०५६०
	१	४४	१६	७०४
अपूर्वक॰	९	२०	२४	४३२०
अनिवृत्ति॰	९	२	१२	२१६
		१	४	३६
सूक्ष्मस॰	९	१	१	१

९५७१७ पदवृन्द

अब उपयोगोंकी अपेक्षा उदयस्थानोंका विचार करते हैं— मिथ्यादृष्टि और सासादनमें मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये पाच उपयोग होते हैं। मिश्रमें तीन मिश्र ज्ञान तथा चक्षु और अचक्षुदर्शन इस प्रकार ये पाच उपयोग होते हैं। किन्तु अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत इनमें प्रारम्भके तीन सम्यग्ज्ञान और तीन दर्शन ये छह उपयोग होते हैं। तथा प्रमत्तसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय तक पाँच गुणस्थानोंमें मन:पर्ययज्ञान सहित सात उपयोग होते हैं। यह तो हुई गुणस्थानोंमें उपयोग व्यवस्था। अब किस गुणस्थानमें कितने उदयस्थान भंग होते हैं यह जानना शेष है सो इसका कथन पहले पृष्ठाक्रम कर ही आये हैं अत वहाँसे जान लेना चाहिये। इस प्रकार जिस गुणस्थानमें जितने उपयोग हों उनसे उस गुणस्थानके उदयस्थानोंको गुणित करके अनन्तर भंगोंसे गुणित कर देने पर उपयोगोंकी अपेक्षा उस उस गुणस्थानके कुल भंग आ जाते हैं। यथा—मिथ्यात्व और सासादनमें क्रमसे ८ और ४ चौबीसी तथा ५ उपयोग हैं अत ८+४=१२ को ५से गुणित कर देने पर ६० हुए। मिश्रमें ४ चौबीसी और ५ उपयोग हैं, अत ४ को ५ से गुणित कर देने पर २० हुए। अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरतमें आठ आठ चौबीसी और ६ उपयोग हैं अत ८+८=१६ को छहसे गुणित कर देने पर ९६ हुए। प्रमत्त अप्रमत्त और अपूर्वकरणमें आठ आठ और ४ चौबीसी और ७ उपयोग हैं अत ८+८+४=२० को सातसे गुणित कर देने पर १४०

हुए। तथा इन सबका जोड ३१६ हुआ। इनमें से प्रत्येक चौबीसी में २४ २५ भग होते हैं अत इन्हें २४ से गुणित कर देने ७५८४ होते हैं। तथा २ प्रकृतिक उदयस्थानमे १२ भग और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें ५ भग होते हैं जिनका कुल जोड १७ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव उपयोगोंकी सख्या ७ से गुणित करनेपर ११९ होते हैं। अत इन्हें पूर्व राशिमें मिला देने पर कुल भग ७७०३ होते हैं। कहा भी है—

'उदयागुवओगेसु सयसयरिसया तिउत्तरा होंति।'

अर्थात्—'मोहनीय के उदयस्थान विकल्पोंको यहां सम्भव, उपयोगोंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण ७७०३ होता है।'

किन्तु एक मत यह भी पाया जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अवधिदर्शनके साथ छह उपयोग होते हैं, अत इस मतके स्वीकार करने पर इस गुणस्थानमें ९६ भग बढ जाते हैं जिससे कुल भगोंकी सख्या ७७९९ प्राप्त होती है। इस प्रकार ये उपयोग गुणित उदयस्थान भग जानना चाहिये।

---

(१) पञ्च० सप्त० गा० ११८।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें योगों की अपेक्षा उदयस्थान १२६५३ और पदवृन्द ८८९४५ बतलाये हैं। तथा उपयोगों की अपेक्षा उदयस्थान ७७९९ और पदवृन्द ५१०८३ बतलाये हैं।

उपयोगों की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३४]

गुणस्थान	उपयोग	गुणकार	गुणनफल (उदयविकल्प)
मिथ्यात्व	५	८×२४	९६०
सास्वादन	५	४×२४	४८०
मिश्र	५	४×२४	४८०
अविरत०	६	८×२४	११५२
देशविरत	६	८×२४	११५२
प्रमत्तवि०	७	८×२४	१३४४
अप्रमत्त०	७	८×२४	१३४४
अपूर्व०	७	४×२४	६७२
अनिवृ०	७	१२ ४	८४ २८
सूक्ष्म०	७	१	७

७७०३ उदयविकल्प

सूचना—एक मत यह है कि मिश्र गुणस्थान में अवधिदर्शन भी होता है अतः इसकी अपेक्षा प्राप्त हुए ९६ भंग ७७०३ भङ्गों में मिला देने पर दूसरे मत की अपेक्षा कुल उदयविकल्प ७७९९ होते हैं।

अब उपयोगोंसे गुणित करने पर पदवृन्दोंका कितना प्रमाण होता है यह बतलाते हैं—मिथ्यात्वमें ६८, सास्वादन में ३२ और मिश्रमें ३२ उदयस्थानपद हैं जिनका जोड १३२ होता है अब इन्हें यहाँ सम्भव ५ उपयोगों से गुणित करने पर ६६० हुए। अविरतसम्यग्दृष्टिमे ६० और देश विरतमें ५२ उदयस्थान पद हैं जिनका जोड़ ११२ होता है। इन्हें यहाँ सम्भव ६ उपयोगोंसे गुणित करने पर ६७२ हुए। तथा प्रमत्तमें ४४ अप्रमत्तमें ४४ और अपूर्वकरणमें २० उदयस्थान पद हैं जिनका जोड १०८ होता है। अब इन्हें यहाँ सम्भव ७ उपयोगोंसे गुणित करने पर ७५६ हुए। तथा इन सबका जोड २०८८ हुआ। इन्हें भगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोंके कुल पदवृन्दोंका प्रमाण ५०११२ होता है। तदनन्तर दो प्रकृतिक उदयस्थानके पदवृन्द २४ और एक प्रकृतिक उदयस्थानके पदवृन्द ५ इनका जोड २९ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ७ उपयोगोंसे गुणित कर देने पर २०३ पदवृन्द और प्राप्त हुए जिन्हें पूर्वोक्त पदवृन्दोंमें सम्मिलित कर देने पर कुल पदवृन्दोंका प्रमाण ५०३१५ होता है। कहा भी है—

'पन्नास च सहस्सा तिन्नि सया चेह पन्नरसा।'

अर्थात्—मोहनीयके पदवृन्दोंको वहाँ सम्भव उपयोगोंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण ५० ३१५ होता है।'

किन्तु जब मतान्तरकी अपेक्षा मिश्र गुणस्थानमें ६ उपयोग स्वीकार कर लिये जाते हैं तब इन पदवृन्दोंका प्रमाण ५१०८३ हो जाता है, क्योंकि तब $१ \times ३२ \times २४ = ७६८$ भग बढ जाते हैं।

(१) पञ्च० सप्त० गा० ११८।

लेश्याओं की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[२६]

गुणस्थान	लेश्या	गुणाकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	६	८×२४	११५२
सास्वादन	६	४×२४	५७६
मिश्र०	६	४×२४	५७६
अविरत०	६	८×२४	११५२
देशवि०	३	८×२४	५७६
प्रमत्त०	३	८×२४	५७६
अप्रमत्त०	३	८×२४	५७६
अपूर्व०	१	४×२४	९६
अनिवृ०	१	१२ ४	१२ ४
सूक्ष्म	१	१	१

= ५२९७

अब लेश्याओंकी अपेक्षा पदवृन्द बतलाते हैं—

मिथ्यात्व के ६८ सासादनके ३२ मिश्रके ३२ और अविरत सम्यग्दृष्टिके ६० पदोंका जोड़ १९२ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ६ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ११५२ होते हैं। देशविरतके ५२ प्रमत्तके ४४ और अप्रमत्तके ४४ पदोंका जोड़ १४० हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ३ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ४२० होते हैं। तथा अपूर्वकरणमें पद २० हैं। किन्तु यहाँ एक ही लेश्या है अतः इनका प्रमाण २० ही हुआ। इन सबका जोड़ १५९२ हुआ। अब इन्हें भंगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोंके कुल पदवृन्द ३८२०८ होते हैं। तदनन्तर इनमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक पदवृन्द मिला देने पर कुल पदवृन्द ३८२३७ होते हैं। कहा भी है—

तिगहीणा तेवन्ना सया य उदयाण होंति लेसाण।
अट्ठतीस सहस्साइं पयाण सय दो य सगतीसा॥[1]

अर्थात्—'मोहनीयके उदयस्थान और पदवृन्दोंको लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण क्रमसे ५२६७ और ३८२३७ होता है।

(१) पञ्चसं॰ सप्त॰ गा॰ ११७।

लेश्याओं की अपेक्षा पदवृन्दों का ज्ञापन कोष्ठक—

[३७]

गुणस्थान	लेश्या	उदयपद	गुणकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	६	६८	२४	९७९२
सास्वादन	६	३२	२४	४६०८
मिश्र०	६	३२	२४	४६०८
अविरत०	६	६०	२४	८६४०
देशविरत	३	५२	२४	३७४४
प्रमत्त०	३	४४	२४	३१६८
अप्रमत्त०	३	४४	२४	३१६८
अपूर्व०	१	२०	२४	४८०
अनिवृ०	१	२ १	१२ ४	२४ ४
सूक्ष्म०	१	१	१	१

३८२३७

इस प्रकार मोहनीयके प्रत्येक गुणस्थान सम्बन्धी उदयस्थान विकल्प और पदवृन्दोंको वहाँ सम्भव योग, उपयोग और लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण कितना होता है इसका विचार किया।

१४ गुणस्थानोंमें मोहनीयके सत्त्वभंग

अब सत्तास्थानोंका विचार क्रम प्राप्त है—

तिण्णेगे एगेग तिग मीसे पंच चउसु नियट्टिए तिन्नि।
एक्कार बायरम्मी सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥ ४८ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके मिथ्यात्वमें तीन, सासादनमें एक, मिश्रमें तीन, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें पाँच पाँच, अपूर्वकरणमें तीन अनिवृत्तिकरणमें ग्यारह, सूक्ष्मसम्पराय-में चार और उपशान्तमोहमें तीन सत्त्वस्थान होते हैं॥

विशेषार्थ—किस गुणस्थानमें कितने सत्त्वस्थान होते हैं और उनके वहाँ होनेका कारण क्या है इसका विचार पहले कर आये हैं। यहाँ संकेतमात्र किया है। मिथ्यात्वमें २८, २७ और २६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। सासादनमें २८ प्रकृतिक एक ही सत्त्वस्थान होता है। मिश्रमें २८, २७ और २४ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। अपूर्वकरणमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अनिवृत्तिकरणमें २८ २४, २१, १३ १२, ११, ५, ४, ३, २ और १ ये ग्यारह सत्त्वस्थान होते हैं। सूक्ष्म-सम्परायमें २८ २४, २१, और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

---

(१) तिण्णेगे एगेग दो मिस्से चदुसु पण णियट्टीए। तिण्णि य थूलेक्कार सुहुमे चत्तारि तिण्णि उवसंते ॥'—गो० कर्म० गा० ५०६।

तथा उपशान्तमोहमें २८ २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। यह उक्त गाथाका सार है।

अब प्रसगानुसार संवेधभगोंका विचार करते हैं –

मिथ्यात्वमें २२ प्रकृतिक बन्धस्थान और ७, ८, ९ तथा १० प्रकृतिक चार उदयस्थान हैं। सो इनमेंसे ७ प्रकृतिक उदयस्थानमें एक २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है किन्तु शेष तीन उदयस्थानोंमें २८, २७ और २६ ये तीनों सत्त्वस्थान सम्भव हैं। इस प्रकार मिथ्यात्वमें कुल सत्त्वस्थान १० हुए।

सास्वादनमें २१ प्रकृतिक बन्धस्थान और ७, ८ और ९ इन तीन उदयस्थानोंके रहते हुए प्रत्येकमें २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान है। इस प्रकार यहाँ ३ सत्त्वस्थान हुए। मिश्रमें १७ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ७ ८ और ९ इन तीन उदयस्थानोंके रहते हुए प्रत्येकमें २८, २७ और २४ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल ९ सत्त्वस्थान हुए। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें एक १७ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ६ ७ ८ और ९ ये चार उदयस्थान होते हैं। सो इनमें से ६ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। ७ और ८ मेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें २८ २४, २३, २२ और २१ ये पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा ९ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १७ सत्त्वस्थान हुए। देशविरतमें १३ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ५, ६, ७ और ८ ये चार उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ५ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८ २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। ६ और ७ मेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें २८ २४, २३ २२ और २१ ये पाँच-पाँच सत्त्वस्थान होते हैं तथा आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

इस प्रकार यहाँ कुल सत्त्वस्थान १७ हुए। प्रमत्तविरत में ९ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ४, ५, ६ और ७ ये चार उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ४ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। ५ और ६ मेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें २८, २४ २३ २२ और २१ ये पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा सात प्रकृतिक उदयस्थानमें २८ २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १७ सत्त्वस्थान हुए। अप्रमत्त सयतमें भी इसी प्रकार सत्रह सत्त्वस्थान होते हैं। अपूर्वकरणमें ९ प्रकृतिक बन्धस्थान और ४, ५ तथा ६ इन तीन उदयस्थानोंके रहते हुए प्रत्येक में २८, २४ और २१ ये तीन-तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल सत्त्वस्थान ९ हुए। अनिवृत्ति करणमें ५ ४, ३, २ और १ प्रकृतिक पाँच बन्धस्थान तथा २ और १ प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं सो इनमेंसे ५ प्रकृतिक बंधस्थान और २ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ १३, १२ और ११ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। चार प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४ २१, ११, ५ और ४ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। तीन प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ ४ और ३ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। २ प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ ३ और २ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। एक प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ २ और १ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल २७ सत्त्वस्थान हुए। सूक्ष्मसम्परायमें बन्धके अभावमें एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। तथा उपशान्त मोह गुणस्थानमें बन्ध और उदयके बिना २८, २४

और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किस बन्धस्थान और उदयस्थानके रहते हुए कितने सत्त्वस्थान होते हैं इसकी विशेष कथना पहले ओघप्ररूपणाके समय कर आये हैं, अत वहाँसे जान लेना चाहिये। इस प्रकार मोहनीय का प्ररूपणा समाप्त हुई।

१५ गुणस्थानों में नामकर्म के संवेध भंग

अब गुणस्थानोंमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंका विचार करते हैं—

छण्णव छक्क तिग सत्त दुग दुग तिग दुग तिगऽट्ठ चऊ।
दुग छच्चउ दुग पण चउ चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥४९॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थ केवलिजिणाणं।
एग चऊ एग चऊ अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥५०॥

अर्थ— नामकर्मके क्रमसे मिथ्यात्वमें छह, नौ छह, सासादनमें तीन, सात, दो, मिश्रमे दो, तीन, दो, अविरत सम्यग्दृष्टिमें तीन आठ, चार, देशविरतमे दो, छह, चार, प्रमत्तविरतमे दो, पाँच, चार, अप्रमत्तविरतम चार, दो, चार, अपूर्वकरणमे पाँच, एक, चार, अनिवृत्तिकरणमें एक एक आठ और सूक्ष्म सम्परायम एक, एक आठ बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान होते हैं। छद्मस्थ जिनके क्रमसे उपशान्तमोहमें एक चार तथा क्षीणमोहमें एक, चार उदय और सत्त्वस्थान होते हैं। तथा केवली जिनके सयोगिकेवली गुणस्थानम आठ, चार और अयोगिकेवली गुणस्थानमें दो, छह क्रमसे उदय और सत्त्वस्थान होते हैं।

(१) छण्णव छक्कं तिय सत्त दुगं दुग तिग दुगं तिण्णि अट्ठ चत्तारि। दुग दुग चदु दुग पण चदु चदुरेयचदू पणेयचदू॥ एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ चदुमट्ठ केवलिजिणाणं। एग चदुरेग चदुरो दो चदु दो छक्क बंधउदयंसा॥' —गो० कर्म० गा० ६९३ ६९४।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओंमें किस गुणस्थानमें नामकर्मके कितने बन्ध उदय और सत्त्वस्थान होते हैं यह बतलाया है। अब आगे विस्तारसे उन्हींका विचार करते हैं—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें २३, २५, २६, २८, २९ और ३० ये छह बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे २३ प्रकृतिक बन्धस्थान अपर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके होता है। इसके बादर और सूक्ष्म तथा प्रत्येक और साधारणके विकल्पसे चार भङ्ग होते हैं। २५ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके होता है। सो इनमेंसे पर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य बन्ध होते समय २० भग होते हैं और शेषकी अपेक्षा एक एक भग होता है। इस प्रकार २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल २५ भग हुए। २६ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके होता है। इसके १६ भग होते हैं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थान देवगति या नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके होता है। सो देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ८ भग होते हैं और नरकगतिके योग्य प्रकृतियों का बन्ध होते समय १ भग होता है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल नौ भग होते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके होता है। सो पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रियके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय प्रत्येककी अपेक्षा आठ, आठ भग होते हैं। तिर्यंचपचेन्द्रियके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ४६०८ भग होते हैं। तथा मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध

होते समय भी ४६०८ भंग होते हैं। इस प्रकार यहाँ २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भंग ९२४० होते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिके साथ देवगतिके योग्य २९ प्रकृतिक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टिके नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्वके निमित्तसे होता है, अतः यहाँ देवगतिके योग्य २९ प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं कहा। तथा ३० प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके होता है। सो पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रियके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होते समय प्रत्येकके आठ आठ भंग होते हैं। और तिर्यंच पंचेन्द्रियके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ४६०८ भंग होते हैं। इस प्रकार यहाँ ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भंग ४६३२ होते हैं। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य और आहारकद्विकके साथ देवगतिके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होता है पर ये दोनों ही स्थान मिथ्यादृष्टिके सम्भव नहीं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्वके निमित्तसे और आहारकद्विकका बन्ध संयमके निमित्तसे होता है। कहा भी है—

सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं।'

अर्थात्—'तीर्थंकरका बन्ध सम्यक्त्वके निमित्तसे और आहारकद्विकका बन्ध संयमके निमित्तसे होता है।'

अतः यहाँ मनुष्यगति और देवगतिके योग्य ३० प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं कहा।

इसी प्रकार अन्तर्भाष्य गाथामें भी मिथ्यादृष्टिके २३ प्रकृतिक आदि बन्धस्थानोंके भंग बतलाये हैं। यथा—

'चउ पणवीसा सोलस नव चत्ताला सया य बाणउया।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही ॥'

अर्थात्— मिथ्यादृष्टि जीवके २३ २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके क्रमसे ४ २५, १६ ६, ९२४० और ४६३२ भंग होते हैं।'

मिथ्यादृष्टि जीवके ३१ और १ प्रकृतिक बन्धस्थान सम्भव नहीं, अत उनका यहाँ विचार नहीं किया।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें उदयस्थान ९ होते हैं। जो इस प्रकार हैं—२१, २४, २५, २६, २७, २८ २९ ३० और ३१। इनका नाना जीवोंकी अपेक्षासे पहले विस्तारसे वर्णन किया ही है उसी प्रकार यहाँ भी समझना। केवल यहाँ आहारकसंयत, वैक्रियसंयत और केवलीसम्बन्धी भंग नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ये मिथ्यादृष्टि जीवके नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें इन उदयस्थानोंके भंग क्रमशः ४१, ११, ३२ ६००, ३१, ११९९, १७८१, २९१४ और ११६४ होते हैं। जिनका कुल जोड़ ७७७३ होता है। वैसे इन उदयस्थानोंके कुल भंग ७७९१ होते हैं जिनमेंसे केवलीके ८ आहारक साधुके ७ और उद्योत सहित वैक्रिय मनुष्यके ३ इन १८ भंगोंके कम कर देने पर ७७७३ भंग प्राप्त होते हैं।

तथा मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ९२, ८९, ८८, ८६, ८० और ७८ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। मिथ्यात्वमें आहारक चतुष्क और तीर्थंकरकी एक साथ सत्ता नहीं होती अत यहाँ ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं कहा। ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीवके सम्भव है क्योंकि आहारक चतुष्ककी सत्तावाला किसी भी गतिमें उत्पन्न होता है। मिथ्यात्वमें ८९ प्रकृतियों की सत्ता सबके नहीं होती किन्तु नरकायुका बन्ध करनेके पश्चात् वेदक सम्यग्दृष्टि होकर जो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता है और जो अन्त समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर नरकमें जाता

है उसीके अन्तर्मुहूर्त कालतक मिथ्यात्वमें ८६ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। ८८ प्रकृतियोंकी सत्ता चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीवोंके सम्भव है क्योंकि चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीवोंके ८८ प्रकृतियोंकी सत्ता होनेमें कोई बाधा नहीं है। ८६ और ८० प्रकृतियोंकी सत्ता उन एकेन्द्रिय जीवोंके होती है जिन्होंने यथायोग्य देवगति या नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंकी उद्वलना की है। तथा ये जीव जब एकेन्द्रिय पर्यायमेंसे निकलकर विकलेन्द्रिय तिर्यंचपंचेन्द्रिय और मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तब इनके भी सब पर्याप्तियोंके पर्याप्त होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालतक ८६ और ८० प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाती है। किन्तु इसके आगे वैक्रिय शरीर आदिका बन्ध होने के कारण इन स्थानोंकी सत्ता नहीं रहती। ७८ प्रकृतियोंकी सत्ता उन अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके होती है जिन्होंने मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना कर दी है। तथा जब ये जीव मरकर विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न होते हैं तब इनके भी अन्तर्मुहूर्त कालतक ७८ प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाती है।

इस प्रकार सामान्यसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंका कथन करके अब उनके संवेधका विचार करते हैं—

२३ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके पूर्वोक्त सभी ही उदयस्थान सम्भव हैं। किन्तु २१, २५ २७, २८ २९ और ३० इन छह उदयस्थानोंमें देव और नारकियों सम्बन्धी जो भंग हैं वे यहाँ नहीं पाये जाते हैं क्योंकि २३ में अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है परन्तु देव अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते, क्योंकि देव अपर्याप्त एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार नारकी भी २३ प्रकृतियोंके

बन्ध नहीं करते क्योंकि नारकियोंके सामान्यसे ही एकेन्द्रियोंके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। अतः यह सिद्ध हुआ कि २३ प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें देव और नारकियोंके उदयस्थान सम्बन्धी भंग नहीं प्राप्त होते। तथा यहाँ ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। सो २१, २४, २५ और २६ इन चार उदयस्थानोंमें उक्त पाँचों ही सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २७, २८, २९, ३० और ३१ इन पाँच उदयस्थानोंमें ७८ के बिना पूर्वोक्त चार, चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ सब उदयस्थानोंकी अपेक्षा कुल ४० सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि २५ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके ही होता है। तथा २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके भी होता है और जो अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव मरकर विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं कुछ काल तक उनके भी होता है। २५ और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें भी इसी प्रकार कथन करना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि देव भी अपने सब उदयस्थानोंमें रहते हुए पर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य २५ और २६ प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध करता है। परन्तु इसके २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके बादर, पर्याप्त और प्रत्येक प्रायोग्य आठ ही भंग होते हैं बाकीके १२ भंग नहीं होते क्योंकि देव सूक्ष्म साधारण और अपर्याप्तकोंमें नहीं उत्पन्न होता इससे उसके इनके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता। इस प्रकार यहाँ भी चालीस चालीस सत्त्वस्थान होते हैं। २८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टिके ३० और ३१ ये दो उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य दोनोंके

होता है और ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवोंके ही होता है। इसके ९२, ८८, ८६ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं सो इनमेंसे ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें चारों सत्त्वस्थान होते हैं। उसमें भी ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उसीके जानना चाहिये जिसके तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता है और जो मिथ्यात्वमें आकर नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। शेष तीन सत्त्वस्थान प्रायः सब तिर्यंच और मनुष्योंके सम्भव हैं तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८९ को छोड़कर शेष तीन सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तीर्थंकर प्रकृति सहित होता है परन्तु तिर्यंचोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व सम्भव नहीं, अतः ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका निषेध किया है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ३० और ३१ इन दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा ७ सत्त्वस्थान होते हैं। देवगति प्रायोग्य २९ प्रकृतिक बन्धस्थानको छोड़कर शेष विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके सामान्यसे पूर्वोक्त ९ उदयस्थान और ९२, ८९, ८८, ८६, ८० तथा ७८ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ये सभी सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। उनमें भी ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उसी जीवके होता है जिसने नरकायुका बन्ध करनेके पश्चात् वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त करके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लिया है। तदनन्तर जो मिथ्यात्वमें जाकर और मरकर नारकियोंमें उत्पन्न हुआ है। तथा ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान देव नारकी मनुष्य, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। ८६ और ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय मनुष्य और एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये।

तथा ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८६ को छोड़कर शेष ५ सत्त्वस्थान होते हैं। जो सब एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रियोंको छोड़कर शेष जीवोंके २४ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता। २५ प्रकृतिक उदयस्थानमें पूर्वोक्त छहों सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनका विशेष विचार २१ प्रकृतिक उदयस्थानके समान जानना चाहिये। २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८६ को छोड़कर शेष पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके नहीं प्राप्त होनेका कारण यह है कि मिथ्यात्वमें उस जीवके यह सत्त्वस्थान होता है जो नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाला है पर नारकियोंके २६ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता। २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ के बिना शेष ५ सत्त्वस्थान होते हैं। ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान जिसके होता है इसका व्याख्यान तो पहलेके समान जानना चाहिये। ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान देव, नारकी, मनुष्य, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। तथा ८६ और ८० सत्त्वस्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्योंकी अपेक्षा जानना चाहिये। यहाँ ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान इसलिये सम्भव नहीं है, क्योंकि २७ प्रकृतिक उदयस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर आतप या उद्योतके साथ अन्य एकेन्द्रियोंके होता है या नारकियोंके होता है पर इनके ७८ की सत्ता नहीं पाई जाती। २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ये ही पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ९२, ८६ और ८८ का विवेचन पूर्ववत् है। तथा ८६ और ८० ये सत्त्वस्थान विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्योंके जानना चाहिये। २६ प्रकृतिक

उदयस्थानमें भी इसी प्रकार ५ सत्त्वस्थान जानना चाहिये। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२ ८८ ८ और ८० ये ४ सत्त्वस्थान होते हैं। सो ये चारों ही विकलेन्द्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्योंकी अपेक्षा जानना चाहिये। नारकियोंके ३० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता अतः यहाँ ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं कहा। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी ये ही चार सत्त्वस्थान होते हैं जो विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। इस प्रकार २६ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके ४५ सत्त्वस्थान होते हैं। तथा मनुष्य और देवगतिके योग्य ३० प्रकृतिक बन्धस्थानको छोड़कर शेष विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके सामान्यसे पूर्वोक्त ६ उदयस्थान और ८९ को छोड़कर पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सम्भव नहीं क्योंकि ८६ प्रकृतिक सत्त्व स्थानवाले जीवके तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। यहाँ २१ २४, २५, २६ इन चार उदयस्थानोंमें उन पाँचों सत्त्वस्थानोंका कथन तो पहलेके समान करना चाहिये। अब शेष रहे २७, २८ २९, ३० और ३१ ये पाँच उदयस्थान सो इनमेंसे प्रत्येकमें ७८ के बिना शेष चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके कुल ४० सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके बन्ध, उदय और सत्ताका संवेध समाप्त हुआ।

मिथ्यात्वमें नामकर्मके बन्धादिस्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्टक —

[३८]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	३२	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	२३	९२,८८,८६,८०,७८
		२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	२८	९२,८८,८६,८०
		२८	११८२	९२,८८,८६,८०
		२९	१७६४	९२,८८,८६,८०
		३०	२९०६	९२,८८,८६,८०
		३१	११६८	९२,८८,८६,८०
२५	२५	२१	४०	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	३१	९२,८८,८६,८०,७८
		२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	३०	९२,८८,८६,८०
		२८	१ ६८	९२,८८,८६,८०
		२९	१७८०	९२,८८,८६,८०
		३०	२९१४	९२,८८,८६,८०
		३१	११६४	९२,८८,८६,८०
२६	१६	२१	४०	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	३१	९२,८८,८६,८०,७८
		२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	३०	९२,८८,८६,८०
		२८	११९८	९२,८८,८६,८०
		२९	१७८०	९२,८८,८६,८०
		३०	२९१४	९२,८८,८६,८०
		३१	११६४	९२,८८,८६,८०

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	९	२१	९	९ ,८०
		२५	१७	९२ ८८
		२६	५७८	९२ ८८
		२७	१७	९२,८८
		२८	११७६	९२ ८८
		२९	१७५४	९२,८८
		३०	२८९०	९२,८९,८८,८६
		३१	११५२	९२,८८ ८६
२९	९२४०	२१	४१	९२,८९ ८८,८६,८० ७८
		२४	११	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२५	३२	९२ ८९ ८८,८६,८०,७८
		२६	६००	९२,८९ ८८ ८६,८० ७८
		२७	३१	९२,८९ ८८ ८६,८०
		२८	११९९	९२ ८९ ८८,८६,८०
		२९	१७८१	९२ ८९,८८ ८६,८०
		३०	२९१४	९२,८९,८८,८६ ८०
		३१	११६४	९२ ८९ ८८,८६,
३०	४६३२	२१	४१	९२ ८९ ८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२ ८८ ८६,८० ७८
		२५	३२	९२ ८९,८८,८६ ८०,७८
		२६	६००	९३ ८८ ८६ ८० ७८
		२७	३१	९२,८९,८८ ८६ ८०
		८	११९९	९२ ८९,८८ ८ ८०
		२९	१७८१	९२ ८९ ८८,८६ ८०
		३०	२९१४	९२,८९,८८ ८६,८०
		३१	११६४	९२ ८८ ८६ ८०
६	१३९२६	४३	४६३२८८	२३३

सास्वादनमें बन्धस्थान तीन हैं—२८, २९ और ३०। इनमेंसे २८ प्रकृतिक बन्धस्थान दो प्रकार का है नरक गति प्रायोग्य और देवगति प्रायोग्य। सास्वादन जीवों के नरकगति प्रायोग्य का तो बन्ध होता नहीं। देवगति प्रायोग्य का होता है सो उसके बन्धक पर्याप्त तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य होते हैं। इसके आठ भंग होते हैं। यद्यपि २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके अनेक भेद हैं किन्तु सास्वादन म बधने योग्य इसके दो भेद हैं—तिर्यंच गतिप्रायोग्य और मनुष्यगतिप्रायोग्य। सो इन दोनों को सास्वादन एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारकी जीव बाँधते हैं। यहाँ इसके कुल भंग ६४०० होते हैं, क्योंकि यद्यपि सास्वादन तिर्यंचगतिप्रायोग्य या मनुष्यगति प्रायोग्य २९ प्रकृतियों को बाँधते हैं तो भी वे हुंडसंस्थान और सेवार्त संहनन का बन्ध नहीं करते, क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बन्ध केवल मिथ्यत्व गुणस्थान में ही होता है, अत यहाँ पाँच संहनन, पाँच संस्थान प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति युगल, स्थिर अस्थिर युगल, शुभ-अशुभ युगल, सुभग दुर्भगयुगल, सुस्वर दुःस्वरयुगल, आदेय अनादेय-युगल और यश कीर्ति अयश कीर्ति युगल इस प्रकार इनके परस्पर गुणित करने पर ३२०० भंग होते हैं। ये ३२०० भंग तिर्यंच-गतिप्रायोग्यके भी होते हैं और मनुष्यगति प्रायोग्यके भी होते हैं। इस प्रकार कुल भंग ६४०० हुए। तथा यद्यपि ३० प्रकृतिक बन्ध स्थानके अनेक भेद हैं किन्तु सास्वादनमें बधने योग्य यह एक उद्योतसहित तिर्यंचगति प्रायोग्य ही है। जिसे सास्वादन एकेन्द्रिय,

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	९	२१	१८	९२,८८
		२५	१७	९२ ८८
		२६	५७६	९२ ८८
		२७	१७	९२,८८
		२८	११७६	९२ ८८
		२९	१७४५	९२,८८
		३०	२८९०	९२,८९,८८,८६
		३१	११५२	९२,८८ ८६
२९	९२४०	२१	४१	९३,९२ ८८,८६,८० ७८
		२४	११	९२ ८८,८६ ८० ७८
		२५	३२	९२ ८९,८८,८६,८०,७८
		२६	६००	९२,८९ ८८,८० ८० ७८
		२७	३१	९२,८९ ८८,८६ ८०
		२८	११९९	९२ ८९ ८८,८६,८०
		२९	१७८१	९२ ८९,८८ ८६,८०
		३०	२९१४	९२,८९,८८,८६ ८०
		३१	११६४	९२ ८९ ८८,८६,
३०	४६३२	२१	४१	९२ ८९ ८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२ ८८ ८६,८०,७८
		२५	३२	९२ ८९,८८,८६ ८०,७८
		२६	६००	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२७	३१	९२,८९,८८ ८६ ८०
		२८	११९९	९२ ८९,८८ ८६ ८०
		२९	१७८१	९२ ८९ ८८,८६ ८०
		३०	२९१४	९२,८९,८८ ८६,८०
		३१	११६४	९२ ८८ ८६ ८०
६	१३९२६	५३	४६३८८	२३३

सास्वादनमे बन्धस्थान तीन हैं —२८, २६ और ३०। इसमेंसे २८ प्रकृतिक बन्धस्थान दो प्रकार का है नरक गति प्रायोग्य और देवगति प्रायोग्य। सास्वादन जीवों के नरकगति प्रायोग्य का तो बन्ध होता नहीं। देवगति प्रायोग्य का होता है सो उसके बन्धक पर्याप्त तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य होते हैं। इसके आठ भग होते हैं। यद्यपि २६ प्रकृतिक बन्धस्थानके अनेक भेद हैं किन्तु सास्वादन में बधने योग्य इसके दो भेद हैं—तिर्यंच गतिप्रायोग्य और मनुष्यगतिप्रायोग्य। सो इन दोनों को सास्वादन एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारकी जीव बाँधते हैं। यहाँ इसके कुल भग ६४०० होते हैं, क्योंकि यद्यपि सास्वादन तिर्यंचगतिप्रायोग्य या मनुष्यगति प्रायोग्य २६ प्रकृतियों को बाँधते हैं तो भी वे हुडसस्थान और सेवार्त सहनन का बन्ध नहीं करते, क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बध केवल मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है, अत यहाँ पाँच सहनन, पाँच सस्थान प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति युगल, स्थिर अस्थिर युगल, शुभ-अशुभ युगल, सुभग दुर्भगयुगल, सुस्वर दुःस्वरयुगल, आदेय अनादेय-युगल और यश कीर्ति अयश कीर्ति युगल इस प्रकार इनके परस्पर गुणित करने पर ३२०० भग होते हैं। ये ३२०० भग तिर्यंच-गतिप्रायोग्यके भी होते हैं और मनुष्यगति प्रायोग्यके भी होते हैं। इस प्रकार कुल भग ६४०० हुए। तथा यद्यपि ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके अनेक भेद हैं किन्तु सास्वादनमे बधने योग्य यह एक उद्योतसहित तिर्यंचगति प्रायोग्य ही है। जिसे सास्वादन एकेन्द्रिय,

उदयस्थानके कुल मिला कर ३२ भग हुए। २४ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हीं जीवोंके होता है जो एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं। सो यहा इसके बादर और पर्याप्तकके साथ यश कीर्ति और अयश कीर्तिके विकल्पसे दो ही भग होते हैं, शेष भग नहीं होते, क्योंकि सूक्ष्म, साधारण अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होता। सास्वादनमें २५ प्रकृतिक उदय-स्थान उसीके प्राप्त होता है जो देवोंमें उत्पन्न होता है। सो इसके यहा स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ और यश कीर्ति-अयश कीर्तिके विकल्पसे ८ भग होते हैं। २६ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हींके होता है जो विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इस स्थानमें अपर्याप्तकके साथ जो एक एक भग पाया जाता है वह यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि अपर्याप्तकोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते। किन्तु शेष भग सम्भव हैं। जो विकलेन्द्रियोंके दो,दो इस प्रकार छह, तिर्यंचपचेन्द्रियोंके २८८ और मनुष्योंके २८८ होते हैं। इस प्रकार यहा २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल मिलाकर ५८२ भग होते हैं। यहा २७ और २८ प्रकृतिक उदयस्थान सम्भव नहीं है, क्यो कि वे नवीन भव ग्रहणके एक अन्तर्मुहूर्त कालके जाने पर होते हैं। किन्तु सास्वादनभाव उत्पत्तिके बाद अधिकसे अधिक कुछ कम ६ आवलिकाल तक ही प्राप्त होता है। अत उक्त दोनो स्थान सास्वादनसम्यग्दृष्टिके नहीं होते यह सिद्ध हुआ। २९ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक स्वस्थानगत देव और नारकियोंके प्राप्त होता है। २६

विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेंद्रिय, मनुष्य, देव और नारकी जीव बाधते हैं। इसके कुल भंग ३२०० होते हैं। इस प्रकार सास्वादनमे तीन बन्धस्थान और उनके भंग ९६०८ होते हैं। अन्तर्भाष्य गाथामें भी कहा है—

'अट्ठ य सय चोयट्ठिं बत्तीस सया य सासणे भेया।
अट्ठावीसाईसु सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥'

अर्थात्—'सास्वादनमें २८ आदि बन्धस्थानोंके क्रमसे ८, ६४०० और ३२०० भेद होते हैं। तथा ये सब मिल कर ९६०८ होते हैं।'

सास्वादनमें उदयस्थान ७ हैं—२१, २४, २५, २६, २९, ३० और ३१। इनमसे २१ प्रकृतियोंका उदय एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय मनुष्य और देवोके होता है। नारकियोमे सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते अतः सास्वादनमें नारकियोंके २१ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं कहा। एकेन्द्रियोंके २१ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए बादर और पर्याप्तकके साथ यशःकीर्तिके विकल्पसे दो भंग ही सम्भव हैं, क्योंकि सूक्ष्म और अपर्याप्तकोंमें सास्वादन जीव नहीं उत्पन्न होता और इसीलिये विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके प्रत्येक और अपर्याप्तकके साथ जो एक एक भंग होता है वह यहां सम्भव नहीं है। हां शेष भंग सम्भव हैं। जो विकलेन्द्रियोंके दो, दो इस प्रकार छह तिर्यचपचेन्द्रियोंके ८, मनुष्योंके ८ और देवोंके ८ होते हैं। इस प्रकार २१ प्रकृतिक

उदयस्थानके कुल मिला कर ३२ भंग हुए। २४ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हीं जीवोंके होता है जो एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं। सो यहां इसके बादर और पर्याप्तकके साथ यश कीर्ति और अयश कीर्तिके विकल्पसे दो ही भंग होते हैं, शेष भंग नहीं होते, क्योंकि सूक्ष्म, साधारण अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होता। सास्वादनमें २५ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हींके प्राप्त होता है जो देवोंमें उत्पन्न होता है। सो इसके यहां स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ और यश कीर्ति अयश कीर्तिके विकल्पसे ८ भंग होते हैं। २६ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हींके होता है जो विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपंचेन्द्रिय और मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इस स्थानमें अपर्याप्तकके साथ जो एक एक भंग पाया जाता है वह यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि अपर्याप्तकोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते। किन्तु शेष भंग सम्भव हैं। जो विकलेन्द्रियोंके दो,दो इस प्रकार छह, तिर्यंचपंचेन्द्रियोंके २८८ और मनुष्योंके २८८ होते हैं। इस प्रकार यहां २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल मिलाकर ५८२ भंग होते हैं। यहां २७ और २८ प्रकृतिक उदयस्थान सम्भव नहीं है, क्यों कि वे नवीन भव ग्रहणके एक अन्तर्मुहूर्त कालके जाने पर होते हैं। किन्तु सास्वादनभाव उत्पत्तिके बाद अधिकसे अधिक कुछ कम ६ आवलिकाल तक ही प्राप्त होता है। अतः उक्त दोनों स्थान सास्वादनसम्यग्दृष्टिके नहीं होते यह सिद्ध हुआ। २९ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक स्वस्थानगत देव और नारकियोंके प्राप्त होता है। २९ प्रकृतिक

उदयस्थानमें देवोंके ८ और नारकियोंके १ इस प्रकार इसके यहां कुल ६ भंग होते हैं। सास्वादनमें ३० प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्योंके या उत्तर विक्रियामें विद्यमान देवोंके होता है। ३० प्रकृतिक उदय स्थानमें तिर्यंच और मनुष्योंमेंसे प्रत्येकके ११५२ और देवोंके ८ इस प्रकार कुल २३१२ भंग होते हैं। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक तिर्यंचोंके होता है। यहां इसके कुल भंग ११५२ होते हैं। इस प्रकार सास्वादन में ७ उदयस्थान होते हैं। अन्तर्भाष्य गाथामें भी इनके भंग निम्न प्रकारसे गिनाये हैं—

'बत्तीस दोन्नि अट्ठ य बासीय सया य पंच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा बावन्नेक्कारस सया य ॥'

अर्थात्—'सास्वादनमें २१, २४, २५, २६, २९, ३० और ३१ इन उदयस्थानोंके क्रमसे ३२, २, ८, ५८२, ९, २३१२ और ११५२ भंग होते हैं।'

तथा सास्वादनमें दो सत्तास्थान होते हैं—६२ और ८८। इनमें से जो आहारक चतुष्कका बन्ध करके उपशमश्रेणीसे च्युत होकर सास्वादन भावको प्राप्त होता है उसके ६२ की सत्ता पाई जाती है अन्यके नहीं। ८८ की सत्ता चारों गतियोंके सास्वादन जीवोंके पाई जाती है। इस प्रकार सास्वादनमें बन्ध उदय और सत्त्व स्थानोंका विवेचन समाप्त हुआ।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध

करनेवाले सास्वादनके २ उदयस्थान होते हैं ३० और ३१। यह नियम है कि सास्वादन जीव देवगति प्रायोग्य ही २८ का बन्ध करता है नरकगति प्रायोग्य २८ का नहीं। उसमें भी करण-पर्याप्त सास्वादन जीव ही देवगतिप्रायोग्यको बांधता है अतः यहां ३० और ३१ इन दो उदयस्थानोंको छोड़कर शेष उदयस्थान सम्भव नहीं। अब यदि मनुष्योंकी अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदयस्थानका विचार करते हैं तो यहां ६२ और ८८ ये दोनों सत्तास्थान सम्भव हैं। और यदि तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदय स्थानका विचार करते हैं तो वहां ८८ यह एक ही सत्तास्थान सम्भव है क्योंकि ६२ की सत्ता उसीके प्राप्त होती है जो उपशम-श्रेणिसे च्युत होकर सास्वादनभावको प्राप्त होता है किन्तु तिर्यं-चोंमें उपशमश्रेणि सम्भव नहीं अतः यहां उनके ९२ प्रकृतिक सत्तास्थानका निषेध किया। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८८ की ही सत्ता रहती है, क्योंकि ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचोंके ही प्राप्त होता है। तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके योग्य २९ का बंध करनेवाले सास्वादन जीवोंके पूर्वोक्त सातों ही उदयस्थान सम्भव हैं। सो इनमेंसे और सब उदयस्थानोंमें तो एक ८८ की ही सत्ता होती है किन्तु ३० के उदयमें मनुष्योंके ६२ और ८८ ये दोनों ही सत्तास्थान सम्भव हैं। २६ के समान ३० प्रकृतिक बंधस्थानका भी कथन करना चाहिये इस प्रकार सास्वादनमें कुल ८ सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार सास्वादनमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका संवेध समाप्त हुआ।

सासादनमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[३९]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	८	३० ३१	२३१२ ११५२	९२ ८८ ८८
२९	६४००	२१ २४ २५ २६ २९ ३० ३१	३० २ ८ ५८२ ९ २३१२ ११५२	८८ ८८ ८८ ८८ ८८ ९२, ८८ ८८
३०	३२००	२१ २४ २५ २६ २९ ३० ३१	३२ २ ८ ५८२ ९ २३१२ ११५२	८८ ८८ ८८ ८८ ८८ ९२, ८८ ८८
३	९६०८	१६	११६५८	१६

मिश्र गुणस्थानमें बन्धस्थान २ हैं—२८ और २९। इनमें से २८ प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंच और मनुष्योंके होता है, क्योंकि ये मिश्र गुणस्थानमें देवगतिके योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। इसके यहाँ ८ भंग होते हैं। तथा २९ प्रकृतिक बन्धस्थान देव और नारकियोंके होता है, क्योंकि ये मिश्र गुणस्थानमें मनुष्य गतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। इसके भी आठ ही भंग होते हैं। दोनो स्थानोंमे ये ८ भंग स्थिर-अस्थिर, शुभ अशुभ और यश कीर्ति अयश कीर्त्तिके विकल्पसे प्राप्त होते हैं।

यहाँ उदयस्थान तीन होते हैं—२९, ३० और ३१। २९ प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकियोंके होता है। इस स्थानके देवों के ८ और नारकियोके १ इस प्रकार ९ भंग होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। इसमें तिर्यंचोंके ११५२ और मनुष्योके ११५२ इस प्रकार कुल २३०४ भंग होते हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पचेन्द्रियोके ही होता है। इसके यहाँ कुल भंग ११५२ होते हैं। इस प्रकार मिश्रमें तीनों उदयस्थानोंके भंग ३४६५ होते हैं।

तथा मिश्रमें सत्तास्थान २ होते हैं—९२ और ८८। इस प्रकार मिश्रमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानो का विवेचन समाप्त हुआ।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टिके २ उदयस्थान होते हैं—३० और ३१। तथा प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते

प्रकार २५ होते हैं। २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकियोंके तथा विक्रिया करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके जानना चाहिये। यहाँ जो २५ और २७ प्रकृतिक स्थानोंका नारकी और देवोंको स्वामी बतलाया है सो यह नारकी वेदकसम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होता है और देव तीनमें से किसी भी सम्यग्दर्शनवाला होता है। चूर्णि में भी कहा है—

'पणवीस सत्तावीसोदया देवनेरइए विउव्वियतिरिय मणुए य पडुच्च। नेरइगो खइगवेयगसम्मद्दिट्ठी देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि॥'

अर्थात्—'अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देव, नारकी और विक्रिया करने वाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। सो ऐसा नारकी या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है या वेदक सम्यग्दृष्टि किन्तु देवके तीन सम्यग्दर्शनोंमें से कोई एक होता है।'

२६ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न नहीं होता अतः यहाँ तीनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंके होता है ऐसा नहीं कहा। उसमें भी तिर्यंचोंके मोहनीय की २२ प्रकृतियों की सत्ता की अपेक्षा ही यहाँ वेदक सम्यक्त्व जानना चाहिये। २८ और २९ प्रकृतियोंका उदय चारों गतिके अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है। ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य और देवोंके होता है। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पचेन्द्रियोंके ही होता है।

, यहाँ सत्तास्थान चार हैं—९३, ९२, ८९ और ८८। जो जिस अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण जीवने तीर्थंकर और आहारकके साथ ३१ प्रकृतियोंका बन्ध किया और पश्चात् मर कर अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो गया उसके ९३ की सत्ता है। जिसने पहले आहारक चतुष्कका बन्ध किया और तदनन्तर परिणाम बदल जानेसे मिथ्यात्वमें जाकर जो चारों गतियोंमें से किसी एक गतिमें उत्पन्न हुआ उसके उस गतिमें पुनः सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंमें बन जाता है। किन्तु देव और मनुष्योंके मिथ्यात्वको बिना प्राप्त किये ही इस गुणस्थानमें ९२ की सत्ता बन जाती है। ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि देव नारकी और मनुष्योंके होता है। क्योंकि इन तीनों गतियोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता रहता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता है अतः यहाँ तिर्यंचोंका ग्रहण नहीं किया। तथा ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतिके अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है। इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंका चिन्तन किया।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके तिर्यंच और मनुष्योंकी अपेक्षा पूर्वोक्त आठों उदयस्थान होते हैं। उसमें भी २१ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान विक्रिया करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके ही होते हैं शेष छह सामान्यके होते हैं। इन उदयस्थानोंमें से प्रत्येक

उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। २६ प्रकृतिक बन्धस्थान दो प्रकारका है—देवगतिप्रायोग्य और मनुष्य गतिप्रायोग्य। इनमेंसे देवगति प्रायोग्य तीर्थंकर प्रकृति सहित है, अतः इसका बन्ध मनुष्य ही करते हैं। किन्तु मनुष्योंके उदयस्थान सात हैं—२१, २५ २६, २७, २८ २६ और ३०, क्योंकि मनुष्योंके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता। यहाँ भी प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८६ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा मनुष्य गतियोग्य २६ प्रकृतियोंको देव और नारकी बाँधते हैं। सो इनमेंसे नारकियोंके २१ २५ २७ २८ और २६ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। तथा देवोंके पूर्वोक्त पाँच और ३० ये छह उदयस्थान होते हैं। सो इन सब उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा मनुष्यगतिके योग्य ३० को देव और नारकी बाँधते हैं। सो इनमें से देवोंके पूर्वोक्त छह उदयस्थान होते हैं और उनमेंसे प्रत्येकमें ९३ और ८६ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। नारकियोंके उदयस्थान तो पूर्वोक्त पाँचों ही होते हैं किन्तु इनमें सत्तास्थान ८६ प्रकृतिक एक एक ही होता है क्योंकि तीर्थंकर और आहारक चतुष्क की युगपत् सत्तावाले जीव नारकियोंमें नहीं उत्पन्न होते। इस प्रकार २१ से लेकर ३० तक प्रत्येक उदयस्थानमें सामान्यसे ९३ ९२, ८६ और ८८ ये चार चार सत्तास्थान होते हैं और ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें सामान्यसे कुल ३० सत्तास्थान हुए।

अविरत सम्यग्दृष्टिके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४१]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	८	२१	१६	९२ ८८
		२५	१६	९२, ८८
		२६	५७६	९२, ८८
		२७	१६	९२ ८८
		२८	११७६	९२, ८८
		२९	१७५२	९२, ८८
		३०	२८८८	९२, ८८
		३१	११५२	९२ ८८
२९	१६	२१	१७	९३, ९२ ८९, ८८
		२५	१७	९३, ९२, ८९, ८८
		२६	२८८	९३, ९२ ८९ ८८
		२७	१७	९३, ९२ ८९, ८८
		२८	६०१	९३, ९२, ८९, ८८
		२९	५०१	९३, ९२ ८९, ८८
		३०	११६०	९३ ९२, ८९ ८८
३०	८	२१	९	९३ ८९
		२५	९	९३ ८९
		२७	९	९३ ८९
		२८	१७	९३, ८९
		२९	१७	९३ ८९
		३०	८	९३, ८९
३	३२	२१		

अप्रमत्तसंयतके चार बन्धस्थान होते हैं—२८, २९, ३० और ३१। तीर्थंकर और आहारक द्विकके विना २८ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इसमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिलाने पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थान है। तीर्थंकरको अलग करके आहारक द्विकके मिलाने पर ३० प्रकृतिक बन्धस्थान होता है और तीर्थंकर तथा आहारक द्विक इनके मिलाने पर ३१ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इन सब बन्धस्थानोंमें एक एक ही भंग होता है, क्योंकि अप्रमत्तसंयतके अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिका बन्ध नहीं होता।

यहां उदयस्थान दो होते हैं—२९ और ३०। जिसने पहले प्रमत्तसंयत अवस्थामें आहारक या वैक्रिय समुद्घातको करके पश्चात् अप्रमत्तस्थानको प्राप्त किया है। उसके २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके यहां दो भंग होते हैं एक वैक्रियकी अपेक्षा और दूसरा आहारककी अपेक्षा। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें भी दो भंग होते हैं। तथा ३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ जीवके भी होता है सो इसकी अपेक्षा यहां १४४ भंग होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्तसंयतके दो उदयस्थानोंके कुल १४८ भंग होते हैं।

तथा यहां पहलेके समान ९३, ९२, ८९ और ८८ ये चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्त संयतके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका विचार किया।

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ७०१ में अप्रमत्तसंयतके ३० प्रकृतिक एक ही उदयस्थान बतलाया है। कारण यह है कि दिगम्बर परम्परामें यही एक मत पाया जाता है कि आहारक समुद्घातको करनेवाले जीवको स्वयोग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण हो जाने पर भी सातवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार दिगम्बर परम्पराके अनुसार वैक्रिय समुद्घातको करनेवाला जीव भी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता। यही सबब है कि कर्मकाण्डमें अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान ही बतलाया है।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ८८ प्रकृतिक ही होता है। २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ८९ प्रकृतिक ही होता है। ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके भी उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान दोनोंके एक ९२ प्रकृतिक ही होता है। तथा ३१ प्रकृतियोंका बन्ध करने वालेके उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ९३ प्रकृतिकही होता है। यहाँ तीर्थंकर या आहारक द्विक इनमेंसे जिसके जिसकी सत्ता होती है वह नियमसे उसका बन्ध करता है इसलिये एक एक बन्धस्थानमें एक एक सत्तास्थान कहा है। यहाँ कुल सत्तास्थान ८ होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्तसंयतके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका विचार किया।

अप्रमत्तसंयतके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४४]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	१	२९	१	८८
		३०	१४५	८८
२९	१	२९	२	८९
		३०	१४५	८९
३०	१	२९	२	९२
		३०	१४६	९२
३१	१	२९	२	९३
		३०	१४६	९३

अनिवृत्ति बादसम्परायमें एक यशःकीर्तिका ही बन्ध होता है, अतः यहां एक प्रकृतिक बन्ध ही बन्धस्थान है। उदयस्थान भी एक ३० प्रकृतिक ही है। सत्तास्थान ८ हैं—९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५। इनमेंसे प्रारम्भके चार उपशमश्रेणिमें होते हैं और जब तक नाम कर्म की तेरह प्रकृतियोंका क्षय नहीं होता तब तक क्षपकश्रेणीमें भी होते हैं। तथा उक्त चारों स्थानोंकी सत्तावाले जीवोंके १३ प्रकृतियोंके क्षय होने पर क्रमसे ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतियोंकी सत्ता प्राप्त होती है। अर्थात् ९३ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ८० की, ९२ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ७९ की, ८९ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ७६ की और ८८ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ७५ की सत्ता शेष रहती है। इस प्रकार यहाँ आठ सत्तास्थान होते हैं। यहां बन्धस्थान और उदयस्थानमें भेद नहीं होनेसे संवेध सम्भव नहीं है अतः उसका पृथक्से कथन नहीं किया। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यहां सत्तास्थान आठ हैं पर बन्धस्थान और उदयस्थान एक एक ही है अतः संवेधका पृथक्से कथन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

सूक्ष्मसम्परायमें भी यशःकीर्तिरूप एक प्रकृतिक एक बन्धस्थान ३० प्रकृतिक एक उदयस्थान और पूर्वोक्त आठ सत्तास्थान होते हैं। किन्तु ९३ आदि प्रारम्भके ४ सत्तास्थान उपशमश्रेणिमें होते हैं और शेष ४ क्षपकश्रेणिमें होते हैं। यहां शेष कथन अनिवृत्ति बादर सम्परायके समान है।

उपशान्तमोह आदि गुणस्थानोंमें बन्धस्थान नहीं है किन्तु

उदयस्थान और सत्त्वस्थान ही हैं। तदनुसार उपशान्तमोहमें एक तीस प्रकृतिक उदयस्थान और ९३, ९२, ८९ और ८८ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

क्षीणमोहमें एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान और ८०, ७९, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। यहां उदयस्थानमें इतनी विशेषता है कि यदि सामान्य जीव क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है तो उसके मतान्तरसे जो ७२ भंग बतला आये हैं वे न प्राप्त होकर २४ भंग ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि इसके एक वज्रर्षभनाराच संहननका ही उदय होता है। यही बात क्षपकश्रेणिके पिछले अन्य गुणस्थानोंमें भी जानना चाहिये। तथा यदि तीर्थंकर की सत्तावाला होता है तो उसके प्रशस्त प्रकृतियोंका ही सर्वत्र उदय रहता है इसलिये एक भंग होता है। इसी प्रकार सत्तास्थानोंमें भी कुछ विशेषता है। बात यह है कि यदि तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव होता है तो उसके ८० और ७६की सत्ता रहती है और इतर जीव होता है तो उसके ७९ और ७५ की सत्ता रहती है। यही बात यथासम्भव सर्वत्र जानना चाहिये। यद्यपि पहले जो कथन कर आये हैं उससे ये सब नियम फलित हो जाते हैं। फिर भी विशेष जानकारीके ख्यालसे यहा इनका विशेषरूपसे उल्लेख किया है।

सयोगिकेवलीके उदयस्थान आठ हैं—२०, २१, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१। तथा सत्तास्थान चार हैं—८०, ७९, ७६ और ७५। सो इनका और इनके संवेधका विचार पहले कर आये हैं अत वहा से जान लेना चाहिये।

सयोगिकेवलीके उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक

[४६]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
		२०	१	७६ ७५
०	०	२१	१	८०,७६
		२६	६	७६ ७५
		२७	१	८०,७६
		२८	१२	७९,७५
		२९	१३	८० ७९ ७६,७५
		३०	२५	८० ७९,७६,७५
		३१	१	८०,७६

अयोगिकेवलीके उदयस्थान दो हैं—९ और ८। इनमेंसे ९ का उदय तीर्थंकरकेवलीके और आठका उदय सामान्य केवलीके होता है।

सत्तास्थान छह हैं—८० ७९, ७६ ७५, ९ और ८। इनमेंसे प्रारम्भके चार सत्तास्थान उपान्त्य समय तक होते हैं और अन्तिम दो सत्तास्थान अन्तिम समयमें होते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थानमें उदयस्थान और सत्तास्थानका विचार किया।

अब संवेधका विचार करते हैं—आठके उदयमें ७९, ७५ और

८ ये तीन सत्तास्थान प्राप्त होते हैं। इनमेंसे आदिके दो उपान्त्य समय तक होते हैं और ८ प्रकृतिक सत्तास्थान अन्तिम समयमें होता है। तथा नौके उदयमें ८०, ७६ और ९ ये तीन सत्तास्थान होते हैं। सो यहां भी प्रारम्भके दो उपान्त्य समय तक होते हैं। और अन्तिम सत्तास्थान अन्तके समयमें होता है।

अयोगिकेवलीके उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्टक—

[४७]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
०	०	९	१	८०,७६,९
		८	१	७९,७५,८

इस प्रकार गुणस्थानोंमें बन्ध उदय और सत्तास्थानोंका विचार समाप्त हुआ।

अब गति आदि मार्गणाओंमें इन बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका विचार अवसर प्राप्त है उसमें भी पहले गतिमार्गणामें इनका कथन करते हैं—

दो छक्कट्ठ चउक्कं पण नव एक्कार छक्कग उदया।
नेरइआइसु संता ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

(1) 'दो छक्कट्ठ चउक्कं णिरयादिसु णामबंधठाणाणि। पण णव एगार पणयं ति पंच बारस चउक्कं च ॥'—गो० कर्म० गा० ७१०।

अर्थ—नारकी आदिके, क्रमसे दो, छह, आठ और चार बन्धस्थान, पाँच, नौ, ग्यारह और पाँच उदयस्थान तथा तीन, पाँच, ग्यारह और चार सत्त्वस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें, किस गतिमें कितने बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान होते हैं इसका निर्देश किया है। तदनुसार आगे इसीका विशेष खुलासा करते हैं—नरकगतिमें दो बन्धस्थान हैं—२९ और ३०। इनमेंसे २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति प्रायोग्य दोनों प्रकार का है। तथा उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति प्रायोग्य है और तीर्थंकर सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य है।

तिर्यंचगतिमें छह बन्धस्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २९ और ३०। इनका विशेष खुलासा पहलेके समान यहाँ भी करना चाहिये। किन्तु केवल यहाँ पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तीर्थंकर सहित और ३० प्रकृतिक बन्धस्थान आहारकद्विक सहित नहीं कहना चाहिये क्योंकि तिर्यंचोंके तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता।

मनुष्यगतिमें आठ बन्धस्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१ और १। सो इनका भी विशेष खुलासा पहलेके समान यहाँ भी करना चाहिये।

देवगतिमें चार बन्धस्थान हैं—२५, २६, २९ और ३०। इनमेंसे २५ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त बादर और प्रत्येकके साथ

एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले देवोंके जानना चाहिये। तथा इसमें आतप या उद्योतके मिला देने पर २६ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके ८ भंग और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानके १६ भंग होते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य या तिर्यंचगति प्रायोग्य दोनों प्रकार का है। तथा उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति प्रायोग्य है और तीथकर प्रकृति सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य है।

अब उदयस्थानोंका विचार करते हैं—नरकगतिमें पाँच उदयस्थान हैं—२१, २५, २७, २८ और २९। तिर्यंचगतिमें नौ उदयस्थान हैं—२१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१। मनुष्यगतिमें ग्यारह उदयस्थान हैं—२० २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९, और ८। देवगतिमें छह उदयस्थान हैं—२१, २५, २७, २८, २९ और ३०।

अब सत्तास्थानोंको बतलाते हैं—नरकगतिमें तीन सत्तास्थान हैं—९२, ८९ और ८८। तिर्यंचगतिमें पाँच सत्तास्थान हैं—९२, ८८, ८६, ८० और ७८। मनुष्यगतिमें ग्यारह सत्तास्थान हैं—९३, ९२, ८९, ८८ ८६, ८०, ७९, ७६, ७५, ९ और ८। देवगतिमें चार सत्तास्थान हैं—९३, ९२, ८९ और ८८।

अब नरक गतिमें संवेधका विचार करते हैं—पंचेन्द्रिय तिर्यंच गतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले नारकियोंके पूर्वोक्त

स्थानवाले जीवोंके भी कथन करना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि मनुष्यगति प्रायोग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके सब उदयस्थानोंमें ८८ के बिना चार चार सत्तास्थान ही सम्भव हैं क्योंकि जो मनुष्य द्विकका बन्ध कर रहा है उसके ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान सम्भव नहीं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थानवाले जीवके आठ उदयस्थान होते हैं २१ २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१। इसमें चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता क्योंकि २४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियोंके ही होता है पर एकेन्द्रियोंके २८ प्रकृतिक बंधस्थान नहीं होता। इन उदयस्थानोंमेंसे २१, २६, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदकजीव को ९२ प्रकृतिक की सत्तावाले वेदक सम्यग्दृष्टियोंके होते हैं। तथा इनमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। २५ और २७ ये दो उदयस्थान विक्रिया करनेवाले तिर्यंचोंके होते हैं। यहाँ भी प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा ३० और ३१ ये दो उदयस्थान सब पर्याप्तियोंसे [illegible] हुए सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंके होते हैं। सो इनमेंसे [illegible] उदयस्थानमें ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्तास्थान होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान मिथ्यादृष्टियोंके ही होता है सम्यग्दृष्टियोंके नहीं क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंचोंके नियमसे देवद्विकका बन्ध सम्भव है। इस प्रकार यहाँ सब बन्धस्थान और सब उदयस्थानों की अपेक्षा २१८ सत्तास्थान होते हैं क्योंकि ऊपर बतलाये अनुसार २३, २५, २६ २९ और ३० इन पाँच बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें चालीस चालीस और २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें अठारह सत्तास्थान प्राप्त होते हैं जिनका कुल जोड़ २१८ होता है।

तिर्यंचगतिमें नाम कर्म के बन्ध,उदय और सत्तास्थानोंके
संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४९]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	२३	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	१५	९२ ८८ ८६,८०,७८
		२६	३११	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	१४	९२,८८,८६,८०
		२८	५९८	९२ ८८,८६,८०
		२९	११८०	९२ ८८,८६ ८०
		३०	१७५४	९२ ८८ ८६,८०
		३१	११६४	९२,८८,८६ ८०
२५	२५	२१		९२,८८,८६ ८०,७८
		२४		९२ ८८,८६ ८०,७८
		२५	"	९२,८८,८६ ८०,७८
		२६		९२ ८८,८६,८०,७८
		२७		९२,८८,८६,८०
		२८		९२ ८८,८६,८०
		२९		९२,८८ ८६,८०
		३०		९२ ८८,८६,८०
		३१		९२,८८ ८६,८०
२६	१६	२१		९२,८८ ८६,८०,७८
		२४		९२ ८८ ८६,८०,७८
		२५	"	९२,८८ ८६ ८०,७८
		२६		९२,८८,८६ ८०,७८
		२७		९२ ८८,८६ ८०
		२८		९२,८८ ८६ ८०
		२९		९२ ८८,८६,८०
		३०		९२,८८ ८६ ८०
		३१		९२,८८,८६ ८०

२८ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान सात उदयस्थान होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टियोंके ही कहना चाहिये, क्योंकि २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तीर्थंकर प्रकृति सहित है और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इन सब उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ६३ और ८६ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। इसमें भी आहारक संयतके ६३ की ही सत्ता होती है। इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति सहित २६ प्रकृतिक बन्धस्थानमें चौदह सत्तास्थान होते हैं। तथा आहारकद्विक सहित ३० का बन्ध होने पर २६ और ३० ये दो उदयस्थान होते हैं। इसमेंसे जो आहारक संयत स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति पूर्ण करनेके बाद अंतिमकालमें अप्रमत्त संयत होता है उसकी अपेक्षा २६ का उदय लेना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र २६ के उदयमें आहारकद्विकके बन्ध का कारण भूत विशिष्ट संयम नहीं पाया जाता। इससे अन्यत्र ३० का उदय होता है। सो इनमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ६२ की सत्ता होती है। ३१ प्रकृतिक बन्धस्थानके समय ३० का उदय और ६३ की सत्ता होती है। तथा एक प्रकृतिक बन्धस्थानके समय ३० का उदय और ९३, ६२, ८९ ८८, ८०, ७६, ७६ और ७५ ये आठ सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३, २५ और २६ के बन्धके समय चौबीस चौबीस सत्तास्थान २८ के बन्धके समय सोहल सत्तास्थान, मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य २६ और ३० के बन्धमें चौबीस चौबीस सत्तास्थान देवगति प्रायोग्य तीर्थंकर प्रकृतिके साथ २६ के बन्धमें चौदह सत्तास्थान ३१ के बन्धमें एक सत्तास्थान और एक प्रकृति बन्धमें आठ सत्तास्थान इस प्रकार मनुष्यगतिमें कुल १२६ सत्ता स्थान होते हैं।

मनुष्यगतिमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[५०]

बन्धस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	२१	८	९२ ८८ ८६, ८०
	२५	८	९२ ८८
	२६	२८९	९२, ८८ ८६, ८०
	२७	८	९२ ८८,
	२८	५८४	९२, ८८ ८६ ८०
	२९	५८५	९२, ८८ ८६ ८०
	३०	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
२५	२१		९२ ८८ ८६, ८०
	२५		९२ ८८
	२६		९२ ८८ ८६ ८०
	२७	„	९२, ८८
	२८		९२, ८८ ८६ ८०
	२९		९२, ८८ ८६ ८०
	३०		९२, ८८ ८६ ८०
२६	२१		९२ ८८ ८६, ८०
	२५		९२ ८८
	२६		९२ ८८, ८६, ८०
	२७	„	९२, ८८
	२८		९२, ८८, ८६, ८०
	२९		९२ ८८ ८६ ८०
	३०		९२ ८८ ८६, ८०

बन्धस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	२१	८	९२ ८८
	२५	८	९२ ८८
	२६	२८८	९२, ८८
	२७	८	९२ ८८
	२८	५८४	९२ ८८
	२९	५८४	९२ ८८
	३०	११५२	९२ ८९ ८८, ८६
२९	२१	९	९३, ९२ ८९ ८८, ८६ ८०
	२५	९	९३, ९२ ८९ ८८
	२६	८९	९३, ९२ ८९ ८८, ८६ ८०
	२७	९	९३ ९२ ८९ ८८
	२८	५७२	९३ ९२ ८९ ८८ ८६, ८०
	२९	५८२	९ ९२, ८९ ८८ ८६ ८०
	३०	११५८	९३ ९२ ८९ ८८, ८६ ८०
३०	२१	९	९२ ८८ ८६ ८०
	२५	८	९२ ८८,
	२६	२८९	९२ ८८, ८६, ८०
	२७	८९	९२ ८८,
	२८	५८४	९२ ८८, ८६, ८०
	२९	५८६	९२, ८८ ८६, ८०
	३०	११५४	९२ ८८ ८६ ८०
३१	३०	१४४	९३
१	३०		९३ ९२ ८९ ८८ ८०, ७९, ७६, ७५

देवगतिमें २५ का बन्ध करनेवाले देवोंके देवोसम्बन्धी छहों उदयस्थान होते हैं। जिनमेंसे प्रत्येकमें ९२ और ८८ ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २६ और २९ का बन्ध करनेवाले देवोंके भी जानना चाहिये। उद्योतसहित तिर्यंचगतिके योग्य ३० का बन्ध करनेवाले देवोंके भी इसी प्रकार छह उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। परन्तु तीर्थंकर प्रकृतिसहित ३० का बन्ध करनेवाले देवोंके छह उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल ६० सत्त्वस्थान होते हैं।

देवगतिमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[५१]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२५	८	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२, ८८

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२६	१६	२१	८	९२ ८८
		२५	८	९२ ८८
		२७	८	९२ ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२, ८८
२९	९२१६	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२ ८८
३०	४६१६	२१	८	९३, ९२, ८९, ८८
		२५	८	९२, ९२, ८९, ८८
		२७	८	९३, ९२, ८९, ८८
		२८	१६	९३, ९२, ८९ ८८
		२९	१६	९३, ९२ ८९, ८८
		३०	८	९३ ९२ ८९ ८८

अब इन्द्रिय मार्गणामें बन्ध उदय और सत्तास्थान तथा उनके संवेधका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

इगं विगलिंदिय सगले पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि।
पण छक्केक्कारुदया पण पण बारस य संताणि ॥ ५२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियके क्रमसे पाँच

(१) इगि विगले पण बंधो अडवीसूणा उ अट्ठ इयरम्मि। पंच छ एक्का रुदया पण पण बारस उ संताणि ॥ पञ्च० सप्त० गा० ११०। 'एगे वियले सयले पण पण अट्ठ पंच छक्केगार पणं। पण तेर बंधादी सेसादेसे वि इदि णेयं ॥' गो० कर्म० गा० ७११।

पाँच और आठ बन्धस्थान, पाँच, छह और ग्यारह उदयस्थान तथा पाँच पाँच और बारह सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—किस इन्द्रियवालेके कितने कितने बंध उदय और सत्तास्थान होते हैं इस बातका निर्देश इस गाथामें किया है। आगे इसका विशेष खुलासा करते हैं—कुल बन्धस्थान आठ हैं उनमेंसे एकेन्द्रियोंके २३, २५, २६, २९ और ३१ ये पाँच बन्धस्थान होते हैं। विकलेन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकके एकेन्द्रियोंके कहे अनुसार ही पाँच पाँच बन्धस्थान होते हैं। तथा पंचेन्द्रियोंके २३ आदि आठों बन्धस्थान होते हैं। कुल उदयस्थान १२ हैं उनमेंसे एकेन्द्रियोंके २१ २४, २५, २६ और २७ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। विकलेन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकके २१, २६ २८, २९ ३० और ३१ ये छह-छह उदयस्थान होते हैं। तथा पंचेन्द्रियोंके २० २१, २५, २६ २७, २८, २९ ३० ३१ ९ और ८ ये ग्यारह उदयस्थान होते हैं। कुल सत्तास्थान बारह हैं जिनमेंसे एकेन्द्रियोंके तथा विकलेन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकके ९२, ८८ ८६, ८० और ७८ ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। और पंचेन्द्रियोंके बारहों सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार किसके कितने और कौन कौन बन्ध, उदय सत्तास्थान होते हैं इसका कथन किया।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२३ प्रकृतियोंका बंध करनेवाले एकेन्द्रियोंके प्रारम्भके चार उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं तथा २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ को छोड़कर चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २४ सत्तास्थान हुए। इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० इन बन्धस्थानोंमें भी उदयस्थानोंकी अपेक्षा चौबीस चौबीस सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रियोंके ये सब सत्तास्थान १२० होते हैं।

एकेन्द्रियोंमें नामकर्मके बंध, उदय और सत्तास्थानोंका ज्ञापक कोष्ठक—

[१२]

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८० ७८
		२५	७	९२ ८८, ८६ ८०, ७८
		२६	१३	९२, ८८ ८ ८०, ७८
		२७	६	९२ ८८ ८६, ८०
२५	२५	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२ ८८, ८६ ८०, ७८
		२५	७	९२ ८८ ८६, ८०, ७८
		२६	१३	९२ ८८ ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२ ८८ ८६, ८०
२६	१६	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२ ८८, ८६ ८० ७८
		२५	७	९२, ८८ ८ ८० ७८
		२६	१३	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२७	६	९२ ८८ ८६ ८०
२९	९२४०	२१	५	९२ ८८, ८६ ८०, ७८
		२४	११	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२५	७	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२६	१३	९२ ८८ ८६, ८० ७८
		२७	६	९२ ८८ ८६, ८०
३०	४६३२	२१	५	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२४	११	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२५	७	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२६	१३	९२ ८८, ८६ ८० ७८
		२७	६	९२ ८८, ८६, ८०

विकलेन्द्रियोंमें २३ का बन्ध करनेवाले जीवोंके २१ और २६ के उदयमें पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं। तथा शेष चार उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ७८ के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २६ सत्तास्थान हुए। इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० इन बन्धस्थानोंमें भी अपने-अपने उदयस्थानोंकी अपेक्षा छब्बीस छब्बीस सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार विकेन्द्रियोंके १३० सत्तास्थान होते हैं।

विकलेन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[५३]

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	९	९२ ८८ ८६, ८० ७८
		२६	९	९२, ८८ ८६ ८० ७८
		२८	६	९२ ८८ ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८ ८६ ८०
		३०	१८	९२ ८८ ८६ ८०
		३१	१२	९२, ८८ ८६ ८०
२५	२५	२१	९	९२, ८८ ८६, ८०, ७८
		२६	९	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२ ८८, ८६ ८०
		२९	१२	९२, ८८ ८६ ८०
		३०	१८	९२ ८८ ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८ ८६, ८०

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	९	२१ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१	१६ ८ ५७६ ८ ११५६ १७२८ २८८० ११५६	९२,८८ ९२ ८८ ९२ ८८ ९२,८८ ९२ ८८ ९२ ८८ ९२,८९ ८८,८६ ९२,८८ ८६
२९	९२४८	२१ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१	२७ ९ ५७८ ९ ११६९ १७४५ २८८८ ११५६	९२,८८,८६,८० ७८,९३ ८९ ९३ ९२ ८९ ८८ ९२ ८८ ८६ ८०,७८ ९३,८९ ९३ ९२ ८९ ८८ ९३ ९२,८९ ८८ ८६ ८० ९३ ९२ ८९ ८८,८६,८० ९३ ९२ ८९,८८ ८६ ८० ९२ ८८,८६ ८०
३०	४६४१	२१ २५ २६ २७ ८ २९ ३० ३१	२७ ९ ५७६ ९ ११६९ १७४५ २८८८ ११५६	९३ ९२ ८९ ८८ ८६,८०,७८ ९३ ९२,८९ ८८ ९२ ८८,८६ ८०,७८ ९३ ९२ ८९,८८ ९३ ९२,८९ ८८ ८६ ८० ९३ ९२,८९ ८८ ८६ ८० ९३,९२ ८९,८८,८६ ८० ९३ ९२ ८९ ८८ ८०
३१	१	३०	१४४	९३
१	१	३०	१४४	९३ ९२,८९,८८ ८०,७९, ७६ ७५

अब ग्रन्थकार बन्धादिस्थानोंके आठ अनुयोग द्वारोंमें कथन करनेकी सूचना करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइआइएहिं अट्ठसु चउप्पगारेण नेयाणि ॥५२॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त बन्ध, उदय और सत्तासम्बन्धी कर्म प्रकृतियोंके स्थान सावधानीपूर्वक गति आदि मार्गणास्थानोंके साथ आठ अनुयोग द्वारोंमें चार प्रकारसे जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ तक ग्रन्थकारने ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्ता-स्थानोंका सामान्यरूपसे तथा जीवस्थान, गुणस्थान, गति और इन्द्रियमार्गणामें निर्देश किया। किन्तु इस गाथामें उन्होंने गति आदि मार्गणाओंके साथ आठ अनुयोगद्वारोंमें उनको घटित करनेकी सूचना की है। साथ ही उन्होंने केवल प्रकृति रूपसे घटित करनेकी सूचना नहीं की है, किन्तु प्रकृतिके साथ स्थिति अनुभाग और प्रदेशरूपसे भी घटित करनेकी सूचना की है। बात यह है कि ये बन्ध, उदय और सत्तारूप सब कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके भेदसे चार चार प्रकारके हैं। जिस कर्मका जो स्वभाव है वही उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत करनेका है आदि। विवक्षित कर्म जितने कालतक आत्मासे लगे रहते हैं उतने कालका नाम स्थिति है। कर्मोंमें जो फल देनेकी हीनाधिक शक्ति पाई जाती है उसे अनुभाग कहते हैं। तथा कर्मदलकी प्रदेश संज्ञा है। मार्गण शब्दका अर्थ अन्वेषण करना है, अतः यह अर्थ हुआ कि जिनके द्वारा या जिनमें जीवोंका

किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणाके चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय योग वेद कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। पुरानी परम्परा यह है कि जीवसम्बन्धी जिस किसी विशेष अवस्थाका वर्णन पहले सामान्यरूपसे किया जाता रहा है। तदनन्तर उसका विशेष चिन्तन चौदह मार्गणाओंके द्वारा आठ अनुयोगद्वारोंमें किया जाता रहा है। अनुयोगद्वार यह अधिकारका पर्यायवाची नाम है। ये अधिकार यद्यपि पहले विषयविभागकी दृष्टिसे हीनाधिक किये जाते रहे हैं। परन्तु मार्गणाओंका विस्तृत विवेचन आठ अधिकारोंमें ही पाया जाता है इसलिये वे मुख्यरूपसे आठ ही लिये जाते रहे हैं। इन अधिकारोंके ये नाम हैं—सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन, काल अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। भागाभाग नामके एक अधिकारका निर्देश और पाया जाता है, परन्तु यह अल्पबहुत्वसे भिन्न नहीं है। इसलिये उसे अलगसे नहीं गिनाया। मालूम होता है कि ग्रन्थकारने उसे पृथक न मानकर ही आठ अधिकारोंकी सूचना की इन अधिकारोंका अर्थ इनके नामोंसे ही स्पष्ट है। अर्थात् ... में यह बतलाया जाता है कि विवक्षित धर्म किन मार्गणाओंमें है और किनमें नहीं। संख्या अनुयोगद्वारमें उस विवक्षित धर्मवाले जीवोंकी संख्या बतलाई जाती है। क्षेत्र अनुयोगद्वारमें विवक्षित धर्मवाले जीवोंका वर्तमान निवासस्थान बतलाया जाता है। स्पर्शन अनुयोगद्वारमें उन विवक्षित धर्मवाले जीवोंने जितने क्षेत्रका पहले स्पर्श किया हो, अब कर रहे हैं और आगे करेंगे, उस सबका समुच्चयरूपसे निर्देश किया जाता है। काल अनुयोगद्वारमें विवक्षित धर्मवाले जीवोंकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिका विचार किया जाता है। अन्तर

शब्द विरह या व्यवधानवाची है अत इस अनुयोगद्वारमें यह बतलाया जाता है कि विवक्षित धर्मका सामान्यरूपसे या किस मार्गणामें कितने कालतक अन्तर रहता या नहीं रहता। भाव अनुयोगद्वारमें उस विवक्षित धर्मके भावका विचार किया जाता है और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारमें उसके अल्पबहुत्वका विचार किया जाता है।

प्रकृतमें ग्रन्थकार सूचना करते हैं कि इसी प्रकार बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंका तथा उनके अवान्तर भेद प्रभेदोंका प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूपसे गति आदि मार्गणाओं के द्वारा आठ अनुयोगद्वारोंमें विवेचन कर लेना चाहिये। यहाँ गाथामें जो 'इति' शब्द आया है वह पहले वर्णन किये गये विषयका निर्देश करता है। जिससे उक्त अर्थ ध्वनित होता है। किन्तु इस विषयमें मलयगिरि आचार्यका वक्तव्य है कि यद्यपि आठों कर्मोंके सत्अनुयोगद्वारका वर्णन गुणस्थानोंमें सामान्यरूपसे पहले किया ही है परन्तु संख्या आदि सात अनुयोगद्वारोंका व्याख्यान कर्मप्रकृतिप्राभृत आदि ग्रन्थोंको देख कर करना चाहिये। किन्तु वे कर्मप्रकृतिप्राभृत आदि ग्रन्थ वर्तमानकालमें उपलब्ध नहीं हैं इसलिये इन संख्यादि अनुयोग द्वारोंका व्याख्यान करना कठिन है। फिर भी जो प्रत्युत्पन्न मति विद्वान् हैं वे पूर्वापर सम्बन्धको देखकर उनका अवश्य व्याख्यान करें। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गाथामें जिस विषयकी सूचना की गई है उस विषयका

प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ वर्तमानकालमें नहीं पाये जाते हैं।

अब उन्यसे उदीरणामें विशेषताके बतलानेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

> उदयस्सुदीरणाए सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो ।
> मोत्तूण य इगुयाल सेसाण सव्वपगईण ॥ ५४ ॥

अर्थ—इकतालीस प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सब प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है।

विशेषार्थ—काल प्राप्त कर्मपरमाणुओंके अनुभव करनेको उदय कहते हैं और उदयावलिके बाहिर स्थित कर्म परमाणुओंको कषायसहित या कषायरहित योग सज्ञावाले वीर्यविशेषके द्वारा उदयावलिमें लाकर उनका उदयप्राप्त कर्मपरमाणुओंके साथ अनुभव करने को उदीरणा कहते हैं इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मपरमाणुओं का अनुभवन उदय और उदीरणा इन दोनोंमें लिया गया है। यदि इनमें अन्तर है तो कालप्राप्त और अकालप्राप्त कर्मपरमाणुओंका। उदयमें कालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं और उदीरणामें अकाल

---

१ दिगम्बर परम्परामें मोहनीयका अविकल वर्णन कषायप्राभृतमें और आठों कर्मोंके बन्धका अविकल वर्णन महाबन्धमें मिलता है। जो पूर्वोक्त सूचनानुसार सांगोपांग है। षट्खण्डागममें भी यथायोग्य वर्णन मिलता है। जो जिज्ञासु इस विषयको गहराईको समझना चाहते हैं वे उक्त ग्रन्थोंका स्वाध्याय अवश्य करें।

(१) 'उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो ॥ गो० कर्म० गा० २७८।' उदओ उदीरणाए तुल्लो मोत्तूण एक्कचत्तालं । आवरणविग्घसंजलणलोभवेए य दिट्ठिदुगं ॥' कर्म प्र० उद० गा० १।

प्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं। तो भी सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्मका उदय होता है वहा उसकी उदीरणा अवश्य होती है। किन्तु इसके सात अपवाद हैं—पहला यह है कि जिनका स्वोदयसे सत्त्वनाश होता है उनकी उदीरणाव्युच्छित्ति एक आवलि काल पहले हो जाती है और उदयव्युच्छित्ति एक आवलि काल बाद होती है। दूसरा अपवाद यह है कि वेदनीय और मनुष्यायुकी उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होती है जब कि इनका उदय अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है। तीसरा अपवाद यह है कि जिन प्रकृतियोका अयोगिकेवली गुणस्थानमें उदय है उनकी उदीरणा सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होती है। चौथा अपवाद यह है कि चारों आयुकर्मोका अपने अपने भवकी अन्तिम आवलिमें उदय ही होता है उदीरणा नहीं। पाचवाँ अपवाद यह है कि निद्रादिक पाचका शरीर पर्याप्तिके बाद इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने तक उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। छठा अपवाद यह है कि अन्तरकरण करनेके बाद प्रथम स्थितिमें एक आवलि काल शेष रहने पर मिथ्यात्वका, क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवालेके सम्यक्त्वका और उपशमश्रेणिमें जो जिस वेदके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढा है उसके उस वेदका उदय ही होता है उदीरणा नहीं। तथा सातवा अपवाद यह है कि उपशम श्रेणिके सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमे भी एक आवलिकाल शेष रहने पर सूक्ष्म लोभका उदय ही होता है उदीरणा नहीं। अब यदि इन सात अपवादवाली प्रकृतियोका संकलन किया जाता है तो वे कुल ४१ होती हैं। यही सबब है कि ग्रंथकारने ४१ प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सब प्रकृतियोके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं बतलाई है।

सवाल यह था कि ग्रन्थकारने बन्धस्थान और सत्तास्थानोंके साथ उदयस्थानोंका और इन सबके संवेधका तो विचार किया पर उदीरणास्थानोंको क्यों छोड़ दिया ? इसी सवालको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकार ने उक्त गाथाका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन ४१ प्रकृतियोंके कारण जो थोड़ा बहुत उदयसे उदीरणामें अन्तर आता है उसे सम्हालते हुए उदीरणाका कथन उदयके समान ही करना चाहिये।

अब आगे जिन ४१ प्रकृतियोंमें विशेषता है उनका निर्देश करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

> नाणंतरायदसगं दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं ।
> सम्मत्त लोभ वेयाउगाणि नव नाम उच्चं च ॥५५॥

अर्थ - ज्ञानावरण और अन्तरायकी दस, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, लोभ संज्वलन, तीन वेद, चार आयु, नाम कर्मकी नौ और उच्चगोत्र ये इकतालीस प्रकृतियां हैं जिनके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा विशेषता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण की पांच, अन्तरायकी पांच और दर्शनावरणकी चार इन चौदह प्रकृतियोंकी क्षीणमोह गुणस्थानमें एक आवलि काल शेष रहने तक उदय और उदीरणा बराबर होती रहती है। परन्तु एक आवलि कालके शेष रह जाने पर तदनन्तर उक्त १४ प्रकृतियोंका उदय ही होता है। उदीरणा नहीं होती, क्योंकि 'उदयावलिगत कर्मदलिक सब करणोंके अयोग्य हैं' इस नियमके अनुसार उनकी उदीरणा नहीं होती। शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवोंके शरीर पर्याप्तिके समाप्त होनेके अनन्तर समयसे लेकर जब तक इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं होता है तब तक निद्रादिक पांचका

उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। इसके अतिरिक्त शेष कालमें उदय और उदीरणा एक साथ होती है और इनका विच्छेद भी एक साथ होता है। साता और असाता वेदनीयकी उदय और उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक एक साथ होती है किन्तु अगले गुणस्थानोंमें इनका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवके अन्तरकरण करनेके पश्चात् प्रथम स्थितिमें एक आवलि प्रमाण कालके शेष रहने पर मिथ्यात्वका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जिस वेदक सम्यग्दृष्टि जीवने मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करके सम्यक्त्वकी सर्व अपवर्तनाके द्वारा अपवर्तना करके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रखी है। तदनन्तर उदय और उदीरणाके द्वारा उसका अनुभव करते हुए जब एक आवलि स्थिति शेष रह जाती है तब सम्यक्त्व का उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। तीन वेदोंमेंसे जिस वेदसे जीव श्रेणिपर चढ़ता है उसके अन्तरकरण करनेके बाद उस वेदकी प्रथम स्थितिमें एक आवलि प्रमाण कालके शेष रहने पर उदय ही होता उदीरणा नहीं होती। चारों ही आयुओंका अपने अपने भवकी अन्तिम आवलि प्रमाण कालके शेष रहने पर उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती किन्तु मनुष्यायुमें इतनी और विशेषता है कि इसका प्रमत्तसंयत गुणस्थानके बाद उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती।

---

(१) दिगम्बर परम्परामें निद्रा और प्रचलाकी उदय और सत्त्वव्युच्छित्ति क्षीणमोह गुणस्थानमें एक साथ बतलाई है, इसलिये इस अपेक्षासे इनमें से भिन्न उदयगत प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्ति एक साथ होगी उसकी उदयव्युच्छित्ति के एक आवलिकाल पूर्व ही उदीरणा व्युच्छित्ति हो जायगी।

तथा मनुष्यगति पचेंद्रियजाति, त्रस बादर पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर इन नौ नाम कर्मकी प्रकृतियोंका और उच्चगोत्रका सयोगिकेवली गुणस्थान तक उदय और उदीरणा दोनो होते हैं। किन्तु अयोगिकेवली गुणस्थानमे इनका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। इस प्रकार पिछली गाथामें उदय और उदीरणाके स्वामित्वकी अपेक्षा जिन इकतालीस प्रकृतियोंकी विशेषताका निर्देश किया वे इकतालीस प्रकृतियाँ कौन हैं इसका इस गाथासे ज्ञान हो जाता है। साथ ही विशेषताके कारणका भी पता लग जाता है जैसा कि पूर्वमें निर्देश किया ही है।

अब किस गुणस्थानमे कितनी प्रकृतियोका बन्ध होता है इसका विचार करते हैं—

तित्थगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ।
मिच्छत्तवयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥५६॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर और आहारकद्विकके बिना शेष सब प्रकृतियोका बन्ध करता है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टि उन्नीसके विना एकसौ एक प्रकृतियोंका बन्ध करता है ॥५६॥

विशेषार्थ—यद्यपि आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। फिर भी बन्ध की अपेक्षा १२० प्रकृतियाँ ली जाती हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शेष २८ प्रकृतियाँ छोड़ दी जाती हैं। किन्तु इसका यह कारण है कि पाँच बन्धन और पाँच सघात पाँच शरीरके अविनाभावी हैं। जहाँ जिस शरीरका बन्ध होता है वहाँ उस बधन और सघातका अवश्य बध होता है अत बधमें

(१) सासणसुत्तमेगुत्तर इ- ब प-च० सत० गा० १४३। 'सत्तर सयमासउयं ॥'—गो० कम० गा १०३।

पाँच बन्धन और पाँच संघातको अलग नहीं गिनाया, इसलिये १४८ मेंसे इन दसके घट जानेसे १३८ रहीं। वर्णादिक चारके अवान्तर भेद २० हैं किन्तु यहाँ अवान्तर भेदोंकी विवक्षा नहीं की गई है अतः १३८ मेंसे २०-४=१६ के घटा देने पर १२२ रहीं। तथा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दोनों बन्धप्रकृतियाँ नहीं हैं, क्योंकि सम्यक्त्व गुणके द्वारा ही जीव मिथ्यात्वदलिकके तीन भाग कर देता है जो अत्यन्त विशुद्ध होता है उसे सम्यक्त्व संज्ञा प्राप्त होती है। जो कम विशुद्ध होता है उसे सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा प्राप्त होती है और इन दोनोंके अतिरिक्त शेष भाग मिथ्यात्व कहलाता है। अतः १२२ मेंसे इन दो अबन्ध प्रकृतियोंके घट जानेसे बन्ध योग्य १२० प्रकृतियाँ रहती हैं। किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्व गुणके साथ होता है और आहारकद्विकका बन्ध संयमगुणके साथ होता है, अतः मिथ्यात्व गुणस्थानमें इन तीन प्रकृतियोंका बन्ध न होकर शेष ११७ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। सास्वादन गुणस्थानमें १०१ प्रकृतियोंका बन्ध होता है गाथामें जो यह कहा है उसका आशय यह है कि मिथ्यात्व गुणके निमित्तसे जिन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमें होता है उनका बन्ध सास्वादनमें नहीं होता। वे सोलह प्रकृतियाँ ये हैं—मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति तीन इन्द्रिय जाति चार इन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, सेवार्त संहनन आतप, स्थावर सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त। अतः मिथ्यात्वमें बंधनेवाली ११७ प्रकृतियोंमेंसे उक्त १६ प्रकृतियोंके घटा देने पर सास्वादनमें १०१ का बन्ध होता है।

छायालसेस मीसो अविरयसम्मो तियालपरिसेसा ।
तेवण्ण दसविरओ विरओ सगवण्णसेसाओ ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव छियालीसके बिना ७४ का, अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तेतालीसके बिना ७७ का, देशविरत त्रेपनके बिना ६७ का और प्रमत्तविरत सत्तावनके बिना ६३ का बन्ध करता है ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें मिश्रादि चार गुणस्थानोंमें कहाँ कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है इसका निर्देश किया है। आगे उसका विस्तारसे खुलासा करते हैं। अनन्तानुबन्धीके उदयसे २५ प्रकृतियोंका बन्ध होता है परन्तु मिश्र गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीका उदय होता नहीं अतः यहाँ बन्धमें २५ प्रकृतियाँ और घट जाती हैं। वे २५ प्रकृतियाँ ये हैं—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, स्त्रीवेद, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, मध्यके चार संस्थान, मध्यके चार संहनन, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र। साथ ही यह नियम है कि मिश्र गुणस्थानमें किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता। इसलिये यहाँ मनुष्यायु और देवायु ये दो आयु और घट जाती हैं। नरकायु की बन्धव्युच्छित्ति पहलेमें और तिर्यंचायुकी बन्धव्युच्छित्ति दूसरेमें हो जाती है अतः यहाँ इन दो आयुओंके घटनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार सास्वादनमें जहीं बधनेवाली १६ प्रकृतियोंमें इन २५+२=२७ प्रकृतियोंके मिला देने पर ४६ प्रकृतियाँ होती हैं जिनका मिश्र गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता।

(१) 'चोहत्तरीउ सम्मे सत्तट्ठी तिगसट्ठी ॥'—पञ्च० सप्त० गा० १२३। 'चउसत्तरि सगट्ठ तेवट्ठी ॥'—गो० कर्म० गा० १०३।

किन्तु यहाँ इनके अतिरिक्त ७४ प्रकृतियोंका बन्ध अवश्य होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि ४३ के बिना ७७ का बन्ध करता है इसका यह आशय है कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके मनुष्यायु, देवायु और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्भव है अतः यहाँ १२० मेंसे ४६ न घटाकर ४३ ही घटाई हैं और इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टिके ७७ का बन्ध बतलाया है। देशविरतमें ५३ के बिना ६७ का बन्ध होता है। इसका यह आशय है कि अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे जिन दस प्रकृतियोंका बन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होता है उनका बन्ध देशविरतके नहीं होता, अतः चौथे गुणस्थानमें जिन ४३ प्रकृतियोंको घटाया है उनमें इन १० प्रकृतियोंके मिला देने पर देशविरतमें बन्धके अयोग्य ५३ प्रकृतियाँ हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त रहीं ६७ प्रकृतियोंका यहाँ बन्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे बंधनेवाली वे १० प्रकृतियाँ ये हैं— अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिक आंगोपांग और वज्रर्षभनाराच संहनन। तथा प्रमत्तविरतमें ५७ के बिना ६३ का बन्ध होता है ऐसा कहनेका यह तात्पर्य है कि प्रत्याख्यानावरणके उदयसे जिन प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका देशविरत गुणस्थान तक बन्ध होता है उनका प्रमत्त विरतके नहीं होता अतः जिन ५३ प्रकृतियोंको देशविरतमें बंधनेके अयोग्य बतलाया है उनमें इन चारके और मिला देने पर प्रमत्त विरतमें ५७ प्रकृतियाँ बंधनेके अयोग्य होती हैं और इस प्रकार यहाँ ६३ प्रकृतियोंका बन्ध प्राप्त होता है।

अप्रमत्तसयत भी हो जाता है और इस प्रकार अप्रमत्त सयत भी देवायुका बन्धक होता है। परन्तु अप्रमत्त सयत गुणस्थानमें देवायुका बन्ध होता है इससे यदि कोई यह समझे कि अप्रमत्त सयत भी देवायुके बधका प्रारभ करता है सो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है। इस प्रकार इसी बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रथकारने 'अप्रमत्त सयत भी देवायुका बन्ध करता है' यह वचन दिया है। अब इन ५९ प्रकृतियोंमेंसे देवायुका बन्ध विच्छेद होजाने पर अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव पहले सख्यातवें भागमें ५८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। तदनन्तर निद्रा और प्रचलाका बन्ध-विच्छेद हो जाने पर सख्यातवें भागके शेष रहने तक ५६ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। तदनन्तर देवगति, देवानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियआगोपाग, आहारक शरीर आहारक आगोपग तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसस्थान, वर्ण रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक स्थिर, शुभ सुभग, सुस्वर, आदेय निर्माण और तीर्थकर इन ३० प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद होजाने पर अन्तिम भागमें २६ प्रकृतियोंका बन्ध करता है।

बावीसा एगूण बधइ अट्ठारसतमनियट्टी।
सत्तर सुहुमसरागो सायममोहो सजोगि त्ति ॥ ५९ ॥

अर्थ— अनिवृत्तिबादर जीव २२ का और इसके बाद क्रम से एक एक कम करते हुए २१ २०, १९ और १८ का बन्ध करता

(१) 'हासरइभयकुच्छाविरमे बावीस पुव्वमि ॥ पुवेयकोहमाइसु अवज्झमाणेसु पच ठाणाणि । बारे सुहुमे सत्तरस पगतिओ सायमियरेसु ॥' पञ्च० सप्त० गा० १४४–१४५ । 'दुवीस सत्तारसेकोघे ॥' गो० कर्म० गा० १०३ ।

गुणस्थान	बन्ध	अबन्ध	बन्धविच्छेद
प्रमत्तविरत	६३	५७	६
अप्रमत्तविरत	५९	६१	१
अपूर्वकरण प्र० भा०	५८	६२	२
" द्वि० भा०	५६	६४	३०
" तृ० भा०	२६	९४	४
अनिवृत्तिक० प्र० भा०	२२	९८	१
" द्वि० भा०	२१	९९	१
" तृ० भा०	२०	१००	१
" च० भा०	१९	१०१	१
" पं० भा०	१८	१०२	१
सूक्ष्म सम्पराय	१७	१०३	१६
उपशान्तमोह	१	११९	०
क्षीणमोह	१	[illegible]	०
सयोगिकेवली	१	[illegible]	०
अयोगिकेवली			

एसो उ बंधसामित्तओघो गइयाइएसु वि तहेव ।
ओहाओ साहिज्जा जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥ ६० ॥

अर्थ—यहाँ तक ओघसे बन्धस्वामित्वका कथन किया। गति आदिक मार्गणाओंमें भी जहाँ जितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता हो तदनुसार यहाँ भी ओघके समान बन्धस्वामित्वका कथन करना चाहिये।

विशेषार्थ—पिछली चार गाथाओंमें किस गुणस्थानवाला कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करता है और कितनी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करता इसका विधि और निषेध द्वारा कथन किया है। इसमे यद्यपि ओघसे बन्ध स्वामित्वका ज्ञान हो जाता है फिर भी गति आदि मार्गणाओंमें कहां कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है और कितनी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता इसका ज्ञान होना शेष रह जाता है। ग्रन्थकारने इसके लिये इतनी ही सूचना की है कि जहाँ जितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता हो इसका विचार करके ओघके समान मार्गणास्थानोंमें भी बन्धस्वामित्वका कथन कर लेना चाहिये। सो इस सूचनाके अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि यहाँ मार्गणास्थानोंमें भी बन्धका विचार किया जाय। किन्तु तीसरे कर्म ग्रन्थमें इसका विस्तार से विचार किया है। जिज्ञासु जन उसे वहाँसे जान सकते हैं अतः यहाँ इसका विचार नहीं किया जाता। गाथामें जो ओघ पद आया है वह सामान्यका पर्यायवाची है और इससे स्पष्टतः गुणस्थान की सूचना मिलती है क्योंकि सर्वप्रथम गुणस्थानोंमें ही बन्धस्वामित्वका विचार कर आये हैं।

अब किस गतिमें कितनी प्रकृतियोंकी सत्ता होती है इसका कथन करनेके लिये आगे की गाथा कहते हैं।

तित्थगर देव निरयाउग च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ हवंति सव्वासु वि गईसु ॥६१॥

अर्थ—तीर्थंकर नाम कर्म देवायु और नरकायु इनकी सत्ता तीन तीन गतियोंमें ही होती है। तथा इनके अतिरिक्त शेष सब प्रकृतियोंकी सत्ता सभी गतियोंमें होती है।

विशेषार्थ—देवायुका बन्ध तो तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके पहले भी होता है और पीछे भी होता है किन्तु नरकायुके सम्बन्धमें यह नियम है कि जिस मनुष्यने नरकायुका बन्ध कर लिया है वह सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृतिका भी बन्ध कर सकता है। इसी प्रकार तीर्थंकरकी सत्ता वाले देव और नारकी नियमसे मनुष्यायुका ही बन्ध करते हैं यह भी नियम है अतः तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व तिर्यंचगतिको छोड़कर शेष तीन गतियोंमें ही पाया जाता है। इसी प्रकार नारकी देवायुका और देव नरकायुका बन्ध नहीं करते ऐसा नियम है अतः देवायुकी सत्ता नरकगति छोड़कर शेष तीन गतियोंमें पाई जाती है और नरकायुकी देवगतिको छोड़कर शेष तीन गतियोंमें पाई जाती है यह ॥ तथा इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि इन तीन प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष सब प्रकृतियोंकी सत्ता सब गतियोंमें होती है। इस गाथाके उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा नरकगतिमें देवायुके बिना १४७ की सत्ता होती है। तिर्यंचगतिमें तीर्थंकर प्रकृतिके बिना १४७ की सत्ता होती है। मनुष्यगतिमें १४८ की ही सत्ता होती है और देवगतिमें नरकायुके बिना १४७ की सत्ता होती है।

अब उपशमश्रेणि का कथन करते हैं—

पढमकसायचउक्कं दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता ।
अविरतसम्मत्ताओ जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥ ६२ ॥

अर्थ--प्रथम कषायकी चौकड़ी और तीन दर्शनमोहनीय ये सात प्रकृतियाँ अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अपूर्वकरण तक नियमसे उपशान्त हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि अपूर्वकरणको छोड़कर शेष उपर्युक्त गुणस्थानवाले जीव इनका यथायोग्य उपशम करते हैं किन्तु अपूर्वकरणमें ये नियमसे उपशान्त ही प्राप्त होती हैं॥

विशेषार्थ—श्रेणियाँ दो हैं उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें जीव चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम करता है और क्षपकश्रेणिमें जीव चारित्रमोहनीय और यथासम्भव अन्य कर्मोंका क्षय करता है। इनमेंसे जब जीव उपशमश्रेणिको प्राप्त करता है तब पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम करता है। तदनन्तर दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम करके उपशम श्रेणिके योग्य होता है। यहाँ ग्रन्थकारने इस गाथामें उक्त सात प्रकृतियोंके उपशम करनेका निर्देश करते हुए पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्कके उपशम करनेकी सूचना की है अतः पहले इसीका विवेचन किया जाता है—

जिसके चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक काययोग इनमें कोई एक योग हो जो पीत, पद्म और शुक्ल इनमेंसे किसी एक लेश्यावाला हो, जो साकार उपयोगवाला हो जिसके आयु कर्मके विना सत्तामें स्थित शेष सात कर्मोंकी स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरके भीतर हो, जिसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुहूर्त पहलेसे उत्तरोत्तर निर्मल हो, जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतियोंको छोड़कर

शुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध करने लगा हो, जिसने अशुभ प्रकृतियोंके सत्तामें स्थित चतुःस्थानी अनुभागको द्विस्थानी कर लिया हो, जिसने शुभ प्रकृतियोंके सत्तामें स्थित द्विस्थानी अनुभागको चतुःस्थानी कर लिया हो और जो एक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबन्धको पूर्व पूर्व स्थितिबन्धकी अपेक्षा उत्तरोत्तर पल्यके संख्यातवें भाग कम बाँधने लगा हो ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत या अप्रमत्तविरत जीव ही अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमाता है। जिसके लिये यह जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है। जिसके ऊपर बतलाये अनुसार तीन भेद हैं। यथाप्रवृत्तकरणमें करणके पहलेके समान अवस्था बनी रहती है अतः इसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा नाम पूर्वप्रवृत्त करण भी है। अपूर्वकरणमें स्थितिबन्ध आदि बहुतसी क्रियायें होने लगती हैं इसलिये इसे अपूर्वकरण कहते हैं। और अनिवृत्तिकरणमें समान कालवालोंकी विशुद्धि समान होती है इसलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अब इसी विषयको विशेष स्पष्टीकरणके साथ बतलाते हैं—

यथाप्रवृत्त करणमें प्रत्येक समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। और शुभ प्रकृतियोंका बन्ध आदि पूर्ववत् चालू रहता है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रम नहीं होता क्योंकि यहाँ इनके योग्य विशुद्धि नहीं पाई जाती। तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा इस करणमें प्रति समय असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं जो छह स्थान पतित होते हैं। हानि और वृद्धिकी अपेक्षा ये छह स्थान दो प्रकारके हैं।

(१) दिगम्बर परम्परामें अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा मिलती है।

अनन्त भागहानि, असख्यात भागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यातगुण हानि, असख्यात गुणहानि और अनन्तगुणहानि ये हानिरूप छह स्थान हैं। तथा अनन्त भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि ये वृद्धिरूप छह स्थान हैं। आशय यह है कि जब हम एक जीवकी अपेक्षा विचार करते हैं तब पहले समयके परिणामोंसे दूसरे समयके परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए प्राप्त होते हैं इत्यादि। और जब नाना जीवोंकी अपेक्षा विचार करते हैं तब एक समयवर्ती नाना जीवोंके परिणाम छह स्थान पतित प्राप्त होते हैं। तथा यथाप्रवृत्तकरणके पहले समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जितने परिणाम होते हैं, उनमें दूसरे समयमें विशेष अधिक होते हैं। दूसरे समयसे तीसरे समयमें और तीसरे समयसे चौथे समयमें इसी प्रकार अन्त तक विशेष अधिक विशेष अधिक परिणाम होते हैं। इसमें भी पहले समयमें जघन्य विशुद्धि सबसे थोडी होती है। इससे दूसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इससे तीसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्त करणके सख्यातवें भागके प्राप्त होने तक यही क्रम चालू रहता है। पर यहाँ जो जघन्य विशुद्धि प्राप्त होती है उससे पहले समयकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। तदनन्तर पहले समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे यथाप्रवृत्तकरणके सख्यातवें भागके अगले समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुन इससे दूसरे समयकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुन इससे यथाप्रवृत्त करणके सख्यातवें भागके आगे दूसरे समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्त करणके अंतिम समयमे जघन्य विशुद्धिस्थानके प्राप्त होने तक ऊपर और

नीचे एक एक विशुद्धि स्थानको अनन्तगुणा करते जाना चाहिये। पर इसके आगे जितने उत्कृष्ट विशुद्धिस्थान शेष रह गये हैं केवल उन्हें उत्तरोत्तर अनन्तगुणा करना चाहिये। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त कालमें यथाप्रवृत्त करणको समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण होता है इसमें प्रति समय असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं जो प्रति समय छह स्थान पतित होते हैं। इसमें भी पहले समयमें जघन्य विशुद्धि सबसे थोड़ी होती है जो यथाप्रवृत्त करणके अन्तिम समयमें कही गई उत्कृष्ट विशुद्धिसे अनन्तगुणी होती है। पुनः इससे पहले समयमें ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। तदनन्तर इससे दूसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुनः इससे दूसरे समयमें उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार अपूर्वकरणका अन्तिम समय प्राप्त होने तक प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर इसी प्रकार कथन करना चाहिये। तथा इसके पहले समयमें ही स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थिति बंध ये पांच कार्य एक साथ हो जाते हैं।

स्थितिघातमें सत्तामें स्थित स्थितिके अग्रभागसे अधिकसे अधिक सैकड़ों सागर प्रमाण और कमसे कम पल्यके संख्यातवें भागप्रमाण स्थितिखण्डका अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा घात किया जाता है। यहाँ जिस स्थितिका आगे चल कर घात नहीं होगा उसमें प्रति समय दलिकोंका निक्षेप किया जाता है और इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उस स्थितिखण्डका घात हो जाता है। तदनन्तर इसके नीचेके दूसरे पल्यके संख्यातवें भागप्रमाण स्थितिखण्डका उक्त प्रकारसे घात किया जाता है। इस प्रकार अपूर्व करणके कालमें उक्त क्रमसे हजारों स्थितिखण्डोंका घात होता है जिससे पहले समयकी स्थितिसे अन्तके समयकी स्थिति संख्यातगुणी हीन रह जाती है।

रसघातमें अशुभ प्रकृतियोंका सत्तामें स्थित जो अनुभाग है उसके अनन्तवें भाग प्रमाण अनुभाग को छोड़ कर शेषका अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा घात किया जाता है। तदनन्तर जो अनन्तवाँ भाग अनुभाग शेष बचा था उसके अनन्तवें भागको छोड़ कर शेषका अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा घात किया जाता है। इस प्रकार एक एक स्थितिखण्डके उत्कीरण कालके भीतर हजारों अनुभागखण्ड खपा दिये जाते हैं।

गुणश्रेणिमें अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय शुद्ध दलिक लेकर उदयावलिके ऊपरकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमें उनका निक्षेप किया जाता है। क्रम यह है कि पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे सबसे कम दलिक उदयावलिके ऊपर पहले समयमें स्थापित किये जाते हैं। इनसे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इनसे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल के अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। यह प्रथम समयमें ग्रहण किये गये दलिकोंकी निक्षेपविधि है। दूसरे आदि समयोंमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनका निक्षेप भी इसी प्रकार होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि गुणश्रेणिकी रचनाके पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे सबसे थोड़े होते हैं। दूसरे समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे इनसे असंख्यातगुणे होते हैं। इसी प्रकार गुणश्रेणि करणके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयोंमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे होते हैं। यहाँ इतनी विशेषता और है कि अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका काल जिस प्रकार उत्तरोत्तर व्यतीत होता

जाता है तदनुसार गुणश्रेणिके दलिकोंका निक्षेप अन्तर्मुहूर्तके उत्तरोत्तर शेष बचे हुए समयोंमें होता है अन्तर्मुहूर्तसे ऊपरके समयोंमें नहीं होता। उदाहरणार्थ—मान लो गुणश्रेणिके अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण पचास समय है और अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण इन दोनोंके कालका प्रमाण चालीस समय है। अब जो जीव अपूर्वकरणके पहले समयमें गुणश्रेणिकी रचना करता है वह गुणश्रेणीके सब समयोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। तथा दूसरे समयमें उनचास समयोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार जैसे जैसे अपूर्वकरणका काल व्यतीत होता जाता है वैसे वैसे दलिकोंका निक्षेप कमती कमती समयोंमें होता जाता है।

गुणसंक्रम प्रदेशसंक्रमका एक भेद है। इसमें प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रमसे अवध्यमान अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियोंके कर्म दलिकोंका उस समय बंधनेवाली सजातीय प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। यह क्रिया अपूर्वकरणके समयमें ही प्रारम्भ हो जाती है।

तथा अपूर्वकरणके पहले समयसे ही जो स्थितिबन्ध होता है वह अपूर्व अर्थात् इसके पहले होनेवाले स्थितिबंधसे बहुत थोड़ा होता है। इसके सम्बन्धमें यह नियम है कि स्थितिबन्ध और स्थितिघात इन दोनोंका आरम्भ भी एक साथ होता है और इनकी समाप्ति भी एक साथ होती है इस प्रकार इन पाँच कार्योंका प्रारम्भ अपूर्वकरणमें एक साथ होता है।

अपूर्वकरणके समाप्त होने पर अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें प्रविष्ट हुए जीवोंके जिस प्रकार शरीरके आकार आदिमें फरक दिखाई देता है उस प्रकार उनके परिणामोंमें फरक नहीं होता। अर्थात् समान समयवाले एक साथमें चढ़े हुए जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं। और भिन्न समयवाले

जीवके परिणाम सर्वथा भिन्न ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरणके पहले समयमें जो जीव हैं, थे और होंगे उन सबके परिणाम एक से ही होते हैं। दूसरे समयमें जो जीव हैं, थे और होंगे उनके भी परिणाम एकसे ही होते हैं। इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें भी समझना चाहिये। अनिवृत्तिकरणके इसलिये जितने समय हैं उतने ही इसके परिणाम होते हैं न्यूनाधिक नहीं। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके प्रथमादि समयोंमें जो विशुद्धि होती है द्वितीयादि समयोंमें वह उत्तरोत्तर अनन्तगुणी होती है। अपूर्वकरणके स्थितिघात आदि पाचों कार्य अनिवृत्तिकरणमें भी चालू रहते हैं। इसके अन्तर्मुहूर्त कालमेंसे संख्यात भागोंके बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनन्तानुबन्धीचतुष्कके एक आवलिप्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड़ कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकोंका अन्तरकरण किया जाता है। इस क्रियाके करनेमें न्यूतन स्थितिबन्ध के कालके बराबर समय लगता है। एक आवलि या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचेकी और ऊपर की स्थितिको छोड़कर मध्यमेंसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंको उठाकर उनका बधनेवाली अन्य सजातीय प्रकृतियोंमें प्रक्षेप करनेका नाम अन्तरकरण है। यदि उदयवाली प्रकृतियोंका अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण छोड़ दी जाती है और यदि अनुदयवाली प्रकृतियोंका अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी नीचेकी स्थिति आवलिप्रमाण छोड़ दी जाती है। चूंकि यहां अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तर करण करना है। किन्तु उसका चौथे आदि गुणस्थानोंमें उदय नहीं होता इसलिये इसके नीचेके आवलि प्रमाण दलिकोंको छोडकर ऊपरके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है। अन्तरकरणमें अन्तरका अर्थ व्यवधान और करणका अर्थ क्रिया है। तदनुसार जिन प्रकृतियोंका अन्तर-

करण किया जाता है उनके दलिकोंकी लड़ाकी मध्यसे भग कर दिया जाता है। इससे दलिकोंकी तीन अवस्थाएं हो जाती हैं— प्रथम स्थिति, मान्तर स्थिति और उपरितन या द्वितीय स्थिति। प्रथम स्थितिका प्रमाण एक आवलि या एक अन्तर्मुहूर्त होता है। इसके बाद सान्तर स्थिति प्राप्त होती है। यह दलिकोंसे शून्य अवस्था है। इसका भी प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद द्वितीय स्थिति प्राप्त होती है। इसका प्रमाण दलिकोंकी शेष स्थिति है। अन्तरकरण करनेके पहले दलिकोंकी लड़ी ००००००००००००००००० इस प्रकार अविच्छिन्न रहती है। किन्तु अन्तरकरण कर लेने पर उसकी अवस्था ००००० ००००००००० इस प्रकार हो जाती है। यहाँ मध्यम या शून्य स्थान दिखाई देता है वहाँ के कुछ दलिकोंको यथा सम्भव बधनेवाली अन्य सजातीय प्रकृतियोंमें मिला दिया जाता है। इस अन्तरस्थान से नीचेकी स्थितिको प्रथम स्थिति और ऊपरकी स्थितिको द्वितीय स्थिति कहते हैं। उदयवाली प्रकृतियोंके अन्तर करण करनेका काल और प्रथम स्थितिका प्रमाण समान होता है। किन्तु अनुदयवाली प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिसे अन्तरकरण करनेका काल बहुत बड़ा होता है। अन्तरकरण क्रियाके चालू रहते हुए उदयवाली प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिका एक एक दलिक उदयमें आकर निर्जीर्ण होता जाता है और अनुदयवाली प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिके एक एक दलिकका उदयमें आनेवाली सजातीय प्रकृतियोंमें स्तिबुक सक्रमणके द्वारा सक्रम होता रहता है। प्रकृतमें अनन्तानुबन्धीके उपशमका अधिकार है किन्तु यहां इसका उदय नहीं है अत इसके प्रथम स्थितिगत प्रत्येक दलिकका भी स्तिबुक सक्रमणके द्वारा पर प्रकृतियोंमें सक्रमण होता रहता है। इस प्रकार अन्तरकरणके हो जाने पर दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी द्वितीय स्थितिवाले दलि

कोंका उपशम किया जाता है, पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है। दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है। तीसरे समयमें इससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है अन्तर्मुहूर्त कालतक इसी प्रकार असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका प्रति समय उपशम किया जाता है। इतने समयमें समस्त अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम हो जाता है। जिस प्रकार धूलिको पानीसे सींच सींच कर दुरमटमें कूट देने पर वह जम जाती है उसी प्रकार कर्मरज भी विशुद्धिरूपी जल से सींच सींच कर अनिवृत्तिकरण-रूपी दुरमटके द्वारा कूट दिये जाने पर संक्रमण, उदय, उदीरणा निधत्ति और निकाचनाके अयोग्य हो जाती है। इसे ही अनन्तानुबन्धीका उपशम कहते हैं।

किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम न होकर विसयोजना ही होती है। विसयोजना क्षपणाका दूसरा नाम है। किन्तु विसयोजना और क्षपणामें केवल इतना अन्तर है कि जिन प्रकृतियोंकी विसयोजना होती है उनकी पुनः सत्ता प्राप्त हो जाती है। किन्तु जिन प्रकृतियोंकी क्षपणा

१ कर्मप्रकृतिमें अनन्तानुबन्धीकी उपशमनाका स्पष्ट निषेध किया है। वहाँ बतलाया है कि चौथे पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गतिके पर्याप्त जीव तीन करणोंके द्वारा अनन्तानुबन्धी चतुष्कका विसंयोजन करते हैं। किन्तु विसंयोजन करते समय न तो अन्तरकरण होता है और न अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम ही होता है—

> चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संयोजणा वियोजंति।
> करणेहिं तीहिं सहिया नन्तरकरणं उवसमो वा ॥'

दिगम्बर परम्परामें कषायप्राभृत, उसकी चूर्णि, षट्खण्डागम और लब्धि

होती है उनकी पुनः सत्ता नहीं प्राप्त होती। अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थानमें होती है। चौथे गुणस्थानमें चारों गतिके जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करते हैं। पाँचवें गुणस्थानमें तिर्यंच और मनुष्य अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करते हैं। तथा छठे और सातवें गुणस्थानमें मनुष्य ही अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करते हैं। इसके लिये भी पहलेके समान तीन करण किये जाते हैं। इतनी विशेषता है कि विसंयोजनाके लिये अन्तरकरणकी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आवलि प्रमाण दलिकोंको छोड़कर ऊपरके सब दलिकोंका अन्य सजातीय प्रकृतिरूपसे संक्रमण करके विनाश कर दिया जाता है और आवलि प्रमाण दलिकोंका वेद्यमान प्रकृतियोंमें संक्रमण करके उनका विनाश कर दिया जाता है।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी उपशमना और विसंयोजनाका विचार करके अब दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंकी उपशमनाका विचार करते हैं। इस विषयमें यह नियम है कि मिथ्यात्वकी [illegible] ता मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं किन्तु

[illegible]में भी अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनावाले मतका ही उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं किन्तु कर्मप्रकृतिके समान कषायपाहुडकी चूर्णिमें भी अनन्तानुबन्धीके उपशमका स्पष्ट निषेध किया है। हाँ दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकामें भी उपशमवाला मत पाया जाता है। और गोम्मटसार कर्मकाण्डसे इस बातका अवश्य पता लगता है कि वे अनन्तानुबन्धीके उपशम वाले मतसे परिचित थे।

१– दिगम्बर परम्परा के सभी कार्मिक ग्रन्थोंमें इस विषयमें जो निर्देश [illegible]या है उसका भाव यह है कि मिथ्यादृष्टि एक मिथ्यात्व का, मिथ्यात्व और

सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका उपशम वेदकसम्यग्दृष्टि जीव ही करते हैं। इसमें भी चारों गतिका मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्वका उपशम करता है। मिथ्यात्वके उपशम करनेकी विधि पूर्ववत् है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके अपूर्वकरणमें गुणसंक्रम नहीं होता किन्तु स्थितिघात, रसघात, स्थितिबन्ध और गुणश्रेणि होती है। मिथ्यादृष्टिके नियमसे मिथ्यात्वका उदय होता है इसलिये इसके गुणश्रेणिकी रचना उदयसमयसे लेकर होती है। अपूर्वकरणके बाद अनिवृत्तिकरणमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये। किन्तु इसके संख्यात भागोंके बीत जाने पर जब एक भाग शेष रह जाता है तब मिथ्यात्वके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड कर इससे कुछ अधिक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ऊपरके निषेकोंका अन्तरकरण किया जाता है। इस क्रियामें नूतन स्थितिबन्धके समान अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। यहाँ जिन दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है उनमेंसे कुछ को प्रथम स्थितिमें और कुछ को द्वितीय स्थितिमें डाल दिया जाता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके

सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनोंका या मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन तीनोंका तथा सम्यग्दृष्टि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय तीनोंका उपशम करता है। जो जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वमें जाकर वेदक काल का उल्लंघनकर जाता है वह यदि सम्यक्त्व की उद्वलना होने के कालमें ही उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है तो उसके तीनों का उपशम होता है। जो जीव सम्यक्त्वकी उद्वलना के बाद सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना होते समय यदि उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है तो उसके मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो का उपशम होता है और जो मोहनीयकी छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि होता है उसके एक मिथ्यात्व का ही उपशम होता है।

मिथ्यात्वका परप्रकृति रूपसे संक्रमण नहीं होता। इसके प्रथम स्थितिमें एक आवलिप्रमाण काल शेष रहने तक प्रथम स्थितिके दलिकोंकी उदीरणा होती है किन्तु द्वितीय स्थितिके दलिकोंका उदीरणा प्रथम स्थितिमें दो आवलि प्रमाण काल शेष रहने तक ही होती है। यहां द्वितीय स्थितिके दलिकों की उदीरणाको आगाल कहते हैं। इस प्रकार यह जीव प्रथम स्थितिका वेदन करता हुआ जब प्रथम स्थितिके अन्तिम स्थानस्थित दलिकका वेदन करता है तब वह अन्तरकरण के ऊपर द्वितीय स्थितिमें स्थित मिथ्यात्वके दलिकोंको अनुभागके अनुसार तीन भागोंमें विभक्त कर देता है। इनमेंसे सबसे विशुद्ध भागको सम्यक्त्व कहते हैं। अर्ध विशुद्ध भागको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं और सबसे अविशुद्ध भागको मिथ्यात्व कहते हैं। यहाँ प्रथम स्थितिके समाप्त होने पर मिथ्यात्वके दलिकका उदय नहीं होनेसे औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

किन्तु इस सम्यक्त्वसे जीव उपशमश्रेणि पर न चढ़कर द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमें चढ़ता है। जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय और तीन दर्शनमोहनीयका उपशम करके उपशम [illegible]को प्राप्त होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। [illegible]नमेंसे अनन्तानुबन्धीके उपशम होनेका कथन तो पहले कर आये हैं अब यहाँ दर्शन मोहनीयके उपशम होनेकी विधि को संक्षेपमें बतलाते हैं। जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव संयममें विद्यमान है वह दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम करता है। इसके यथाप्रवृत्त आदि तीन करण पहले के समान जानना चाहिये। किन्तु अनिवृत्तिकरणके संख्यात भागोंके बीत जाने पर अन्तरकरण करते समय सम्यक्त्वकी प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थापित की जाती है, क्योंकि यह वेद्यमान प्रकृति है। तथा सम्यग्मिथ्यात्व

और मिथ्यात्वकी प्रथम स्थिति आवलिप्रमाण स्थापित की जाती है, क्योंकि वेदकसम्यग्दृष्टिके इन दोनोंका उदय नहीं होता। यहाँ इन तीनों प्रकृतियोंके जिन दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है उनका निक्षेप सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिमें होता है। इसी प्रकार इस जीवके मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी प्रथम स्थितिके दलिकका सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिके दलिकमें स्तिबुक संक्रमके द्वारा संक्रमण होता रहता है। और सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिका प्रत्येक दलिक उदयमें आ आकर निर्जीर्ण होता रहता है। इस प्रकार इसके सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिके क्षीण हो जाने पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार द्वितीयोपशमको प्राप्त करके चारित्र मोहनीयका उपशम करनेके लिये पुनः यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। करणोंका स्वरूप तो पूर्ववत् ही है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि यथाप्रवृत्त करण अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें होता है अपूर्वकरण अपूर्वकरण गुणस्थानमें होता है। और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें होता है। यहाँ भी अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें स्थितिघात आदि पहले के समान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं उनमें उसी प्रकृतिका गुणसंक्रम होता है जिसके सम्बन्धमें वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरणमें नहीं बंधनेवाली संपूर्ण अशुभ प्रकृतियोंका गुणसंक्रम होता है। अपूर्वकरणके कालमेंसे संख्यातवाँ भाग बीत जाने पर निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बन्धव्युच्छित्ति होती है। इसके बाद जब हजारों स्थिति खण्डोंका घात हो लेता है तब अपूर्वकरण का संख्यात बहुभाग काल व्यतीत होता है और एक भाग शेष रहता है। इस बीचमें

देवगति, देवानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर कार्मणशरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रिय आगोपांग, आहारक आंगोपांग वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इन तीस नामकर्मकी प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। तदनन्तर स्थितिखण्डपृथक्त्वके जाने पर अपूर्वकरणके अन्तिम समय प्राप्त होता है। इसमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साकी बन्धव्युच्छित्ति, छह नोकषायों की उदयव्युच्छित्ति तथा सब कर्मोंकी देशोपशमना, निधत्ति और निकाचना करणोंकी व्युच्छित्ति होती है। इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करता है। इसमें भी स्थितिघात आदि कार्य पहलेके समान होते हैं। अनिवृत्तिकरणके संख्यात बहु भाग कालके बीत जाने पर चारित्रमोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करते समय चार संज्वलनोंमेंसे जिस संज्वलनका और तीन वेदोंमेंसे जिस वेदका उदय है उनकी प्रथम स्थितिको अपने अपने उदयकाल प्रमाण स्थापित करता है और अन्य उन्नीस प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिको एक आवलिप्रमाण स्थापित करता है। स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका उदयकाल सबसे थोड़ा है। पुरुषवेदका उदयकाल इससे संख्यातगुणा है। संज्वलनक्रोधका उदयकाल इससे विशेष अधिक है। संज्वलन मानका उदयकाल इससे विशेष अधिक है। संज्वलनमायाका उदयकाल इससे विशेष अधिक है और संज्वलन लोभका उदयकाल इससे विशेष अधिक है। पञ्चसंग्रहमें कहा भी है—

'थीअपुमोदयकाला संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स।
तत्तो वि विसेसअहिओ कोहे तत्तो वि जहकमसो ॥'

अर्थात्–'स्त्रीवेद और नपुंसक वेदके कालसे पुरुषवेदका काल संख्यात गुणा है। इससे क्रोधका काल विशेष अधिक है। आगे भी इसी प्रकार यथाक्रम विशेष अधिक काल जानना चाहिये।'

जो संज्वलन क्रोधके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जबतक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम नहीं होता है तब तक संज्वलन क्रोधका उदय रहता है। जो संज्वलन मानके उदयसे उपशम श्रेणि पर चढ़ता है उसके जबतक अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम नहीं होता है तब तक संज्वलन मानका उदय रहता है। जो संज्वलन मायाके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम नहीं होता है तबतक संज्वलन मायाका उदय रहता है। तथा जो संज्वलन लोभके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण लोभ और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम नहीं होता है तबतक संज्वलन लोभका उदय रहता है। जितने कालके द्वारा स्थितिखण्डका घात करता है या अन्य स्थितिका बन्ध करता है उतने ही कालके द्वारा अन्तरकरण करता है, क्योंकि इन तीनोंका आरम्भ और समाप्ति एक साथ होती है। तात्पर्य यह है कि जिस समय अन्तरकरण क्रियाका आरम्भ होता है। उसी समय अन्य स्थितिखण्डके घातका और अन्य स्थितिबन्धका भी आरम्भ होता है और अन्तरकरण क्रिया के समाप्त होनेके समय ही इनकी समाप्ति भी होती है। इस प्रकार अन्तरकरणके द्वारा जो अन्तर स्थापित किया जाता है उसका प्रमाण प्रथम स्थितिसे संख्यातगुणा है। अन्तरकरण करते समय जिन कर्मोंका बन्ध और उदय होता है उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थितिमें क्षेपण करता है।

जैसे पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि पर चढनेवाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका अन्तरकरण करते समय उदय ही होता है बन्ध नहीं होता, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थितिमें ही क्षेपण करता है द्वितीय स्थितिमें नहीं जैसे स्त्रीवेदके उदयमें श्रेणि पर चढनेवाला स्त्रीवेदका। अन्तरकरण करनेके समय जिन कर्मोंका उदय न होकर केवल बन्ध ही होता है उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको द्वितीय स्थितिमें ही क्षेपण करता है प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे सज्वलन क्रोधके उदयसे श्रेणि पर चढनेवाला शेष सज्वलनोंका। किन्तु अन्तरकरण करनेके समय जिन कर्मोंका न तो बन्ध ही होता है और न उदय ही उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको अन्य सजातीय बधनेवाली प्रकृतियोंमें क्षेपण करता है। जैसे दूसरी और तीसरी कषायोंका।

अन्तरकरण करके नपुसकवेदका उपशम करता है। पहले समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका उपशम करता है दूसरे समयमें असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। तीसरे समयमें इनसे असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। इस प्रकार अन्तिम समय प्राप्त होने तक प्रति समय असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। तथा जिस समय जितने दलिकोंका उपशम करता है उस समय उससे असख्यातगुणे दलिकोंका परप्रकृतियोंमें क्षेपण करता है। किन्तु यह क्रम उपान्त्य समय तक ही चालू रहता है। अन्तिम समयमें तो जितने दलिकोंका पर प्रकृतियोंमें सक्रमण होता है उससे असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। इसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है। इसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें हास्यादि छहका उपशम करता है। हास्यादि छहका उपशम होते ही पुरुषवेदके बन्ध, और उदीरणाका तथा प्रथम स्थितिका विच्छेद हो जाता है। किन्तु आगाल प्रथम

स्थितिमें दो आवलिका काल शेष रहने तक ही होता है। तथा इसी समयमें छह नोकषायोंके दलिकोंका पुरुषवेद में क्षेपण न करके संज्वलन क्रोधादिकमें क्षेपण करता है। हास्यादि छहका उपशम हो जानेके बाद एक समय कम दो आवलिकालमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। पहले समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका उपशम करता है। दूसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। तीसरे समयमें इससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। दो समय कम दो आवलियोंके अन्तिम समय तक इसी प्रकार उपशम करता है। तथा दो समय कम दो आवलि काल तक प्रति समय यथाप्रवृत्त संक्रमके द्वारा पर प्रकृतियोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। पहले समयमें बहुत दलिकोंका निक्षेप करता है। दूसरे समयमें विशेष हीन दलिकोंका निक्षेप करता है। तीसरे समयमें इससे विशेष हीन दलिकोंका निक्षेप करता है। अन्तिम समय तक इसी प्रकार जानना चाहिये। जिस समय हास्यादि छहका उपशम हो जाता है और पुरुषवेदकी प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है उसके अनन्तर समयसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोधके उपशम करनेका एक साथ प्रारम्भ करता है। तथा संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम तीन आवलिका शेष रह जानेपर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोधके दलिकोंका संज्वलन क्रोधमें निक्षेप न करके संज्वलन मानादिकमें निक्षेप करता है। तथा दो आवलि कालके शेष रहने पर आगाल नहीं होता है किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। और एक आवलिका कालके शेष रह जाने पर संज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस

समय संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका कालके द्वारा बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको स्तिबुकसंक्रमके द्वारा क्रमसे संज्वलन मानमें निक्षेप करता है और एक समयकम दो आवलिकाओंमें बद्ध दलिकोंका पुरुषवेदके समान उपशम करता है और परप्रकृतिरूपसे संक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधके उपशम होनेके बाद एक समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन क्रोधका उपशम हो जाता है। जिस समय संज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मानकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर उनकी प्रथम स्थिति करके वेदन करता है। प्रथम स्थिति करते समय उदय समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका निक्षेप करता है। दूसरे समय असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता। तीसरे समयमें इससे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार प्रथम स्थितिके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। प्रथम स्थिति करनेके प्रथम समयसे लेकर अप्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावरण मान और संज्वलनमानके उपशम करनेका एक साथ प्रारम्भ करता है। संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम तीन आवलिका कालके शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका संज्वलन मानमें प्रक्षेप न करके संज्वलन माया आदिमें प्रक्षेप करता है। दो आवलिकाके शेष रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। एक आवलिका कालके शेष रहने पर संज्वलनमानके बन्ध,

न्दय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है। तथा अप्रत्याख्याना-वरणमान और प्रत्याख्यानावरणमानका उपशम हो जाता है। इस समय सज्वलनमानकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंका स्तिबुक सक्रमके द्वारा क्रमसे सज्वलन मायामें निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिकाकालमें बद्ध दलिकोंका पुरुषवेदके समान उपशम करता है और परप्रकृतिरूपसे सक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मानके उपशम होनेके बाद एक समय कम दो आवलिका कालमें सज्वलन मानका उपशम हो जाता है। जिस समय सज्वलन मानके बन्ध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है उसके अनन्तर समयसे लेकर सज्वलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर उनका प्रथम स्थिति करके वेदन करता है। तथा उसी समयसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण माया प्रत्याख्यानावरण माया और सज्वलन मायाके उपशम करनेका एक साथ प्रारम्भ करता है। सज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम तीन आवलिका कालके शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाके दलिकोंका सज्वलन मायामें प्रक्षेप न करके सज्वलन लोभमें प्रक्षेप करता है। दो आवलिकाके शेष रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। एक आवलिका कालके शेष रहने पर सज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो जाता है। इस समय सज्वलन मायाकी प्रथम स्थिति

गत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको स्तिबुक संक्रमके द्वारा क्रमसे संज्वलन मायामें निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंका पुरुषवेदके समान उपशम करता है और परप्रकृतिरूपसे संक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाके उपशम होनेके बाद एक समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन मायाका उपशम हो जाता है। जिस समय संज्वलन मायाके बन्ध उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन लोभकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर लोभवेदक कालके तीन भागोंमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति करके वेदन करता है। इनमेंसे पहले त्रिभागका नाम अश्वकर्णकरण काल है और दूसरे त्रिभागका नाम किट्टीकरणकाल है। अश्वकर्णकरण कालमें पूर्वस्पर्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व स्पर्धक करता है।

बात यह है कि जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओंसे बने हुए स्कन्धोंको कर्मरूपसे ग्रहण करता है। इनमेंसे प्रत्येक स्कन्धमें जो सबसे जघन्य रसवाला परमाणु है उसके रसको बुद्धिसे छेद करने पर सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुमें एक अधिक अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुमें दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सिद्धोंके अनन्तवें भाग अधिक रसके अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होने तक प्रत्येक परमाणुमें रसका एक एक अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ाते जाना चाहिये

यहाँ जघन्य रसवाले जितने परमाणु होते हैं उनके समुदाय को एक वर्गणा कहते हैं। एक अधिक रसवाले परमाणुओंके समुदायको दूसरी वर्गणा कहते हैं। दो अधिक रसवाले परमाणुओंके समुदायको तीसरी वर्गणा कहते हैं। इस प्रकार कुल वर्गणाएं सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण या अभव्योंसे अनन्तगुणा प्राप्त होती हैं। इन सब वर्गणाओंके समुदायको एक स्पर्धक कहते हैं। दूसरे आदि स्पर्धक भी इसी प्रकार प्राप्त होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम आदि स्पर्धकोंकी अन्तिम वर्गणाके प्रत्येक वर्गमें जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं दूसरे आदि स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके प्रत्येक वर्गमें सब जीवोंसे अनन्तगुण रसके अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। और फिर अपने-अपने स्पर्द्धककी अन्तिम वर्गणा तक रसका एक एक अविभाग प्रतिच्छेद बढता जाता है। ये सब स्पर्धक संसारी जीवोंके प्रारम्भसे ही यथायोग्य होते हैं इसलिये इन्हें पूर्वस्पर्द्धक कहते हैं। किन्तु यहाँ पर उनमेंसे दलिकोंको ले लेकर उनके रसको अत्यन्त हीन कर देता है। इसलिये उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि संसार अवस्थामें इस जीवने बन्धकी अपेक्षा कभी भी ऐसे स्पर्धक नहीं किये थे किन्तु विशुद्धिके प्रकर्षसे इस समय करता है इस लिये ये अपूर्वस्पर्धक कहे जाते हैं। यह क्रिया पहले त्रिभागमें की जाती है। दूसरे त्रिभागमें पूर्वस्पर्द्धकों और अपूर्वस्पर्द्धकोंमेंसे दलिकोंको ले लेकर प्रति समय अनन्त किट्टियाँ करता है। अर्थात् पूर्वस्पर्द्धकों और अपूर्वस्पर्द्धकोंसे वर्गणाओंको ग्रहण करके और उनके रसको अनन्तगुणा हीन करके रसके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें अन्तराल कर देता है। जैसे, मानलो रसके अविभाग प्रतिच्छेद सौ, एकसौ एक और एकसौ दो थे अब उन्हें घटा कर क्रमसे पाँच, पन्द्रह और पचीस कर दिया। इसीका नाम किट्टी

विशेषार्थ—उपशमश्रेणिमें मोहनीयकी प्रकृतियोंका उपशम किया जाता है और क्षपकश्रेणिमें उनका क्षय किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उपशमश्रेणिमें प्रकृतियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण हो जाता है और द्वितीय स्थितिमें स्थित दलिक संक्रमण आदिके अयोग्य हो जाते हैं इसलिये अन्तर्मुहूर्त काल तक उनका फल नहीं प्राप्त होता। किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनका समूल नाश हो जाता है। कदाचित् यह कहा जाय कि बन्धादिकके द्वारा उनकी पुनः सत्ता प्राप्त हो जायगी सो भी बात नहीं, क्योंकि ऐसा नियम है कि सम्यग्दृष्टिके जिन प्रकृतियोंका समूल क्षय हो जाता है उनका न तो बन्ध ही होता है और न तद्रूप अन्य प्रकृतियोंका संक्रम ही, अतः ऐसी प्रकृतियोंकी पुनः सत्ता सम्भव नहीं। हाँ अनन्तानुबन्धी चतुष्क इस नियमका अपवाद है इसलिये उसका क्षय विसंयोजना शब्दके द्वारा कहा जाता है। क्षपकश्रेणिका आरम्भ आठ वर्षसे अधिक आयुवाले, उत्तम संहननके धारक, चौथे पाँचवें छठे या सातवें गुणस्थानवर्ती जिनकालिक मनुष्यके ही होता है अन्यके नहीं। सबसे पहले वह अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्वकी क्षपणाका आरम्भ करता है। इसके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं। इनका कथन पहले कर ही आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके पहले समयमें अनुदयरूप मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके दलिकोंका गुण संक्रमके द्वारा सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है। तथा अपूर्वकरणमें इन दोनोंका उद्वलना संक्रम भी होता है। इसमें सबसे पहले सबसे बड़े स्थितिखण्डकी उद्वलना की जाती है। तदनन्तर एक एक विशेष कम स्थितिखण्डोंकी उद्वलना की जाती है। यह क्रम

अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक चालू रहता है। इससे अपूर्वकरणके पहले समयमें जितनी स्थिति होती है अन्तिम समयमें उससे सख्यातगुण हीन अर्थात् सख्यातवा भाग स्थिति रह जाती है। इसके बाद यह अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है। यहाँ भी स्थितिघात आदि कार्य पहलेके समान चालू रहते हैं। अनिवृत्तिकरणके पहले समयमें दर्शनत्रिककी देशोपशमना, निधत्ति और निकाचनाका विच्छेद हो जाता है। अनिवृत्तिकरणके पहले समयसे लेकर हजारों स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर दर्शन त्रिकका स्थितिसत्ता असज्ञीके योग्य शेष रहती है। इसके बाद हजार पृथक्त्व प्रमाण स्थिति खण्डोंका घात हो जाने पर चौ इन्द्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर तीन इन्द्रिय जीवके योग्य स्थिति सत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुन उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर दो इन्द्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुन उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर एकेंद्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुनरपि उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर पल्यके असख्यातवें भागप्रमाण स्थितिसत्ता शेष रहती है। तदनन्तर तीनों प्रकृतियाकी स्थितिके एक भागको छोडकर शेष बहुभागका घात करता है। तदनन्तर पुनरपि एक भागको छोडकर शेष बहु भागका घात करता है। इस प्रकार इस क्रमसे भी हजारों स्थितिखडों का घात करता है तदनन्तर मिथ्यात्वकी स्थितिके असख्यात भागोंका तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके सख्यात भागोंका घात करता है। इस प्रकार प्रभूत स्थितिखडोंके व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्वके दलिक आवलिप्रमाण शेष रहते हैं। तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके दलिक पल्यके असख्यातवें भागप्रमाण शेष रहते हैं।

उपर्युक्त इन स्थितिखण्डोंका घात करते समय मिथ्यात्वसम्बन्धी दलिकोंका सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है। सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धी दलिकोंका सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है और सम्यक्त्वसम्बन्धी दलिकोंका अपने कम स्थितिवाले दलिकोंमें ही निक्षेप किया जाता है। इस प्रकार जब मिथ्यात्वके एक आवलिप्रमाण दलिक शेष रहते हैं तब उनका भी स्तिबुकसंक्रमके द्वारा सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है। तदनन्तर सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके असंख्यात भागोंका घात करता है और एक भाग शेष रहता है। तदनन्तर जो एक भाग बचता है उसके असंख्यात भागोंका घात करता है और एक भाग शेष रहता है। इस प्रकार इस क्रमसे कितने ही स्थितिखण्डोंके व्यतीत हो जाने पर सम्यग्मिथ्यात्वकी तो एक आवलिप्रमाण और सम्यक्त्वकी आठ वर्षप्रमाण स्थिति शेष रहती है। इसी समय यह जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे दर्शनमोहनीयका क्षपक माना जाता है। इसके बाद सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखण्डकी उत्कीरणा करता है। उत्कीरणा करते समय दलिकका उदय समयसे लेकर निक्षेप करता है। उदय समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका निक्षेप करता है। दूसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। तीसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार यह क्रम गुणश्रेणीशीर्ष तक चालू रहता है। इसके आगे अन्तिम स्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर कम कम दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अनेक स्थितिखण्डोंकी उत्कीरणा करके उनका अधस्तन स्थितिमें निक्षेप करता है। इसके यह क्रम द्विचरम स्थितिखण्डके प्राप्त होनेतक चालू रहता है। किन्तु द्विचरम स्थितिखण्डसे अन्तिम स्थितिखण्ड संख्यातगुणा बड़ा होता है।

जब यह जीव सम्यक्त्वके अन्तिम स्थितिखण्डकी उत्कीरणा कर चुकता है तब इसे कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरणके कालमें यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे परभवसम्बन्धी आयुके अनुसार किसी भी गतिमें उत्पन्न होता है। इस समय यह शुक्ल लेश्याको छोड़कर अन्य लेश्याको भी प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियोंमें होती है। कहा भी है—

'पट्ठवगो य मणूसो णिट्ठवगो चदुसु वि गदीसु ॥'

अर्थात्—'दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियों में होती है।'

यदि बद्धायु जीव क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ करता है तो अनन्तानुबन्धी चतुष्कका क्षय हो जानेके पश्चात् उसका मरण होना भी सम्भव है। उस अवस्थामें मिथ्यात्वका उदय हो जानेसे यह जीव पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध और संक्रमद्वारा संचय करता है क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धीका सत्त्व नियमसे पाया जाता है। किन्तु जिसने मिथ्यात्वका क्षय कर दिया है वह पुनः अनन्तानुबन्धी चतुष्कका संचय नहीं करता। सात प्रकृतियोंका क्षय हो जाने पर जिसके परिणाम नहीं बदले हैं वह मरकर नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है किन्तु जिसके परिणाम बदल जाते हैं वह परिणामानुसार अन्य गतिमें भी उत्पन्न होता है। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता तो सात प्रकृतियोंका क्षय होने पर वह वहीं ठहर जाता है चारित्रमोहनीयके क्षयका यत्न नहीं करता। जो बद्धायु जीव सात प्रकृतियोंका क्षय करके देव या नारकी होता है वह नियमसे तीसरी पर्यायमें मोक्षको प्राप्त होता है और जो [illegible] तिर्यंच होता है वह

की दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाणकालके शेष रहने तक उसका वेदन करता है। तथा इन तीनों किट्टियोंके वेदनकालके समय उपरितन स्थितिगत दलिकका गुणसंक्रमके द्वारा प्रति समय संज्वलनमानमें निक्षेप करता है। तथा जब तीसरी किट्टीके वेदनका अन्तिम समय प्राप्त होता है तब संज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है। इस समय इसके एक समय कम दो आवलिका प्रमाण कालके द्वारा बंधे हुए दलिकको छोड़कर शेषका अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् मानकी प्रथम किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त कालतक उसका वेदन करता है। तथा मानकी प्रथम किट्टीके वेदनकालके भीतर ही एक समय कम दो आवलिका प्रमाण कालके द्वारा क्रोधसंज्वलनके बन्धका संक्रमण भी करता है। यहाँ दो समय कम दो आवलिका काल तक गुणसंक्रम होता है और अन्तिम समयमें सर्व संक्रम होता है। इस प्रकार मानकी प्रथम किट्टीका एक समय अधिक एक आवलिका शेष रहने तक वेदन करता है और तत्पश्चात् मानकी दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् तीसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहनेतक उसका वेदन करता है। इसी समय मानके बन्ध उदय और उदीरणाकी व्युच्छित्ति हो जाती है तथा सत्तामें केवल एक समय कम दो आवलिकाके द्वारा बँधे हुए दलिक शेष रहते

है शेषका अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् मायाकी प्रथम किट्टी की दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त कालतक उसका वेदन करता है। तथा मानके बन्धादिकके विच्छिन्न हो जाने पर उसके दलिकको एक समय कम दो आवलिकाकालमें गुणसंक्रमके द्वारा मायामें निक्षेप करता है। मायाकी प्रथम किट्टीका एक समय अधिक एक आवलिका शेष रहने तक वेदन करता है तत्पश्चात् मायाकी दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाण कालके शेष रहनेतक वेदन करता है। तत्पश्चात् मायाकी तीसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक वेदन करता है। इसी समय मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है तथा सत्तामें केवल एक समय कम दो आवलिकाके द्वारा बंधे हुए दलिक शेष रहते हैं शेषका अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् लोभकी प्रथम किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त कालतक उसका वेदन करता है। तथा मायाके बन्धादिकके विच्छिन्न हो जाने पर उसके नवीन बंधे हुए दलिक का एक समय कम दो आवलिका कालमें गुणसंक्रमके द्वारा लोभमें निक्षेप करता है। तथा मायाकी प्रथम किट्टीका एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक ही वेदन करता है। तत्पश्चात् लोभकी दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है

समय अधिक कालके शेष रहने तक

करता है। जब यह जीव दूसरी किट्टीका वेदन करता है तब तीसरी किट्टीके दलिकको सूक्ष्म किट्टी करता है यह क्रिया भी दूसरी किट्टीके वेदनकालके समान एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक चालू रहती है। जिस समय सूक्ष्म किट्टी करनेका कार्य समाप्त होता है उसी समय सञ्ज्वलन लोभका बन्धविच्छेद, बादर कषायके उदय और उदीरणाका विच्छेद तथा अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थानके कालका विच्छेद होता है। तदनन्तर सूक्ष्म किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका वेदन करता है। इसी समयसे यह जीव सूक्ष्म सम्पराय कहा जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके कालमें एक भागके शेष रहने तक यह जीव एक समय कम दो आवलिकाके द्वारा बंधे हुए सूक्ष्म किट्टीगत दलिकका स्थिति घातादिकके द्वारा प्रत्येक समयमें क्षय भी करता है। तदनन्तर जो एक भाग शेष बचा है उसमें सर्वापवर्तनाके द्वारा सञ्ज्वलन लोभका अपवर्तन करके उसे सूक्ष्मसम्परायके कालके बराबर करता है। यह सूक्ष्म सम्परायका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। यहाँसे आगे सञ्ज्वलन लोभके स्थितिघात आदि कार्य होना बन्द हो जाते हैं, किन्तु शेष कर्मोंके स्थितिघात आदि कार्य बराबर होते रहते हैं। सर्वापवर्तनाके द्वारा अपवर्तित की गई इस स्थितिका उदय और उदीरणाके द्वारा एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक वेदन करता है। तत्पश्चात् उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और सूक्ष्म सम्परायके अंतिम समय तक सूक्ष्म लोभका केवल उदय ही रहता है। सूक्ष्मसम्परायके अन्तिम समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और अन्तरायकी पाँच इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध

विच्छेद तथा मोहनीयका उदय और सत्ताविच्छेद हो जाता है।

अब पूर्वोक्त अर्थका सकलन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

पुरिसं कोहे कोहं माणे माणं च छुहइ मायाए।
मायं च छुहइ लोहे लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥६४॥

अर्थ—पुरुषवेदका क्रोधमें, क्रोधका मानमें मानका मायामें और मायाका लोभमें सक्रमण करता है। तथा सूक्ष्म लोभका बादरसे घात करता है।

विशेषार्थ—पुरुषवेदकी बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका गुण सक्रमणके द्वारा सज्वलन क्रोधमें सक्रमण करता है। सज्वलन क्रोधके बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका सज्वलन मानमें सक्रमण करता है। सज्वलन मानके बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका सज्वलन मायामें सक्रमण करता है। सज्वलन मायाके भी बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका सज्वलन लोभमें सक्रमण करता है। तथा सज्वलन लोभके बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर सूक्ष्म किट्टीगत लोभका विनाश करता है। लोभका पूर्ण नाश हो जाने पर तदनन्तर समयमें क्षीणकषाय होता है। इसके क्षीणकषायके कालके बहुभागके व्यतीत होनतक शेष कर्मोंके स्थितिघात आदि कार्य पहलेके समान चालू रहते हैं। किन्तु क्षीणकषायके कालका जब एक भाग शेष रह जाता है तब

(1) 'कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहइ। मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥' क० पा० (चरणाधिकार)

ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच और निद्राद्विक इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थितिका सर्वापवर्तनाके द्वारा अपवर्तन करके उसे क्षीण कषायके शेष रहे हुए कालके बराबर करता है। केवल निद्राद्विककी स्थितिको स्वरूपकी अपेक्षा एक समय कम रहता है। सामान्य कर्मकी अपेक्षा तो इनकी स्थिति शेष कर्मोंके समान ही रहती है। क्षीणकषायके सम्पूर्ण कालकी अपेक्षा यह काल यद्यपि उसका एक भाग है तो भी उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त होता है। इनकी स्थिति क्षीणकषायके कालके बराबर होते ही इनमें स्थितिघात आदि कार्य नहीं होते किन्तु शेष कर्मोंके होते हैं। निद्राद्विकके बिना उपर्युक्त शेष चौदह प्रकृतियोंका एक समय अधिक एक आवलि कालके शेष रहने तक उदय और उदीरणा दोनों होते हैं। तदनन्तर एक आवलि काल तक केवल उदय ही होता है। क्षीणकषायके उपान्त्य समयमें निन्द्राद्विकका स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा क्षय करता है और अन्तिम समयमें शेष चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है। इसके अनन्तर समयमें यह जीव सयोगिकेवली होता है। वह लोकालोकका पूरी तरह ज्ञाता द्रष्टा होता है। जगमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, न हुआ और न होगा जिसे जिनदेव नहीं जानते हैं। अर्थात् वे सबको जानते व देखते हैं।

इस प्रकार सयोगिकेवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टसे कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार करते हैं। यदि उनके वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति आयुकर्म की स्थितिसे अधिक होती है तो उनकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करने के लिये अन्तमें वे समुद्घात करते हैं और यदि शेष तीन कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर होती है तो वे समुद्घात नहीं करते। मूल शरीरको न छोड़कर आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। इसके

सात भेद हैं—वेदना समुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, तैजससमुद्घात, वैक्रियसमुद्घात, आहारकसमुद्घात और केवलिसमुद्घात। तीव्र वेदनाके कारण जो समुद्घात होता है उसे वेदनासमुद्घात कहते हैं। क्रोधादिकके निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे कषायसमुद्घात कहते हैं। मरणके पहले उस निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। जीवोंका अनुग्रह या विनाश करनेमें समर्थ तैजस शरीरकी रचनाके लिये जो समुद्घात होता है उसे तैजससमुद्घात कहते हैं। वैक्रियशरीरके निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे वैक्रियसमुद्घात कहते हैं। आहारकशरीरके निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे आहारकसमुद्घात कहते हैं। तथा वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करनेके लिये केवली जिन जो समुद्घात करते हैं उसे केवलिसमुद्घात कहते हैं। इसमें आठ समय लगते हैं। पहले समयमें अपने शरीरका जितना बाहुल्य है तत्प्रमाण आत्मप्रदेशोंको ऊपर और नीचे लोकके अन्तपर्यन्त रचते हैं इसे दण्डसमुद्घात कहते हैं। दूसरे समयमें पूर्व और पश्चिम या दक्षिण और उत्तर दिशामें कपाट रूपसे आत्मप्रदेशोंको फैलाते हैं। तीसरे समयमें उनका मन्थान समुद्घात करते हैं। चौथे समयमें लोकमें जो अवकाश शेष रहता है उसे भर देते हैं। पाँचवें समयमें संकोच करते हैं। छठे समयमें मन्थानका संकोच करते हैं। सातवें समयमें पुन कपाट अवस्थाको प्राप्त होते हैं और आठवें समयमें स्वशरीरस्थ हो जाते हैं। जो केवली समुद्घातको प्राप्त होते हैं वे समुद्घातके पश्चात् और जो समुद्घातको नहीं प्राप्त होते वे योगनिरोधके योग्य कालके शेष रहने पर योगनिरोधका प्रारम्भ करते हैं। इसमें सबसे पहले बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगको रोकते हैं।

तत्पश्चात् बादर वचनयोगको रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म काय-योगके द्वारा बादर काययोगको रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगको रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगको रोकते हुए सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यानको प्राप्त होते हैं। इस ध्यानकी सामर्थ्यसे आत्मप्रदेश संकुचित होकर निश्छिद्र हो जाते हैं। इस ध्यानमें स्थितिघात आदिके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय तक आयुकर्मके सिवा भवका उपकार करनेवाले शेष सब कर्मोंका अपवर्तन करते हैं जिससे सयोगिकेवलीके अन्तिम समयमें सब कर्मोंकी स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थानके कालके बराबर हो जाती है। यहाँ इतनी विशेषता है कि जिन कर्मोंका अयोगिकेवलीके उदय नहीं होता उनकी स्थिति स्वरूपकी अपेक्षा एक समय कम हो जाती है किन्तु कर्म सामान्यकी अपेक्षा उनकी भी स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थानके कालके बराबर रहती है। सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर छह संस्थान, पहला संहनन, औदारिक आंगोपांग वर्णादि चार अगुरुलघु, उपघात, परघात उच्छ्वास शुभ अशुभ विहायोगति, प्रत्येक स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, [illegible] और निर्माण इन तीस प्रकृतियोंके उदय और उदीरणाका [illegible] करके उसके अनन्तर समयमें वे अयोगिकेवली हो जाते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। इस अवस्थामें वे भवका उपकार करनेवाले कर्मोंका क्षय करनेके लिये व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। वहाँ स्थिति घात आदि कार्य नहीं होते। किन्तु जिन कर्मोंका उदय होता है उनको तो अपनी स्थिति पूरी होनेसे अनुभव करके नष्ट कर देते हैं। तथा जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता उनका स्तिबुक संक्रम

के द्वारा प्रतिसमय वेद्यमान प्रकृतियोंमें सक्रम करते हुए अयोगि-केवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक वेद्यमान प्रकृतिरूपसे वेदन करते हैं।

अब अयोगिकेवलीके उपान्त्य समयमें किन प्रकृतियोंका क्षय होता है इसे अगली गाथाद्वारा बतलाते हैं—

देवगइसहगयाओ दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति
सविवागेयरनामा नीयागोयं पि तत्थेव ॥६५॥

अर्थ—अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमें देवगतिके साथ बंधनेवाली प्रकृतियोंका क्षय होता है। तथा वहीं पर जिनका अयोगी अवस्थामें उदय नहीं है उनका तथा नीचगोत्र और किसी एक वेदनीयका भी क्षय होता है।

विशेषार्थ—जैसा कि पहले बतला आये हैं कि अयोगी अवस्थामें जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता उनकी स्थिति अयोगि-केवली गुणस्थानके कालसे एक समय कम होती है और इसलिये उनका उपान्त्य समयमें क्षय हो जाता है। किन्तु वे प्रकृतियां कौन कौन हैं इसका विचार वहाँ न करके प्रकृत गाथामें किया गया है। यहाँ बतलाया है कि जिन प्रकृतियोंका देवगतिके साथ बन्ध होता है उनकी, नामकी जिन प्रकृतियोंका अयोगी अवस्थामें उदय नहीं होता उनकी तथा नीचगोत्र और किसी एक वेदनीयकी अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें सत्त्वव्युच्छित्ति हो जाती है। देवगतिके साथ बंधनेवाली प्रकृतियाँ दस हैं जो निम्न-प्रकार हैं—देवगति, देवानुपूर्वी वैक्रियशरीर, वैक्रियबन्धन, वैक्रियसंघात वैक्रिय आंगोपांग आहारक शरीर आहारक-बंधन, आहारकसंघात, आहारकआंगोपांग। गाथामें नामकर्मकी

जिन प्रकृतियोंका अनुदयरूपसे संकेत किया है वे पैंतालीस हैं। यथा—औदारिक शरीर औदारिकबन्धन, औदारिकसंघात, तैजसशरीर, तैजसबन्धन तैजससंघात, कार्मण शरीर, कार्मण बन्धन कार्मणसंघात छह संस्थान छह संहनन औदारिक आंगोपांग वर्ण, रस गन्ध स्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी परघात, उपघात, अगुरुलघु, प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति प्रत्येक अपर्याप्त उच्छ्वास स्थिर, अस्थिर शुभ अशुभ, सुस्वर दुस्वर, दुर्भग अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण। इनके अतिरिक्त नीचगोत्र और कोई एक वेदनीय ये दो प्रकृतियाँ और हैं। इस प्रकार कुल सत्तावन प्रकृतियाँ हैं जिनका अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमें क्षय हो जाता है। यहाँ वर्णादिक चारके अवान्तर भेद नहीं गिनाये इसलिये सत्तावन प्रकृतियाँ रहीं हैं। अब यदि इनमें वर्णादिक चारके स्थानमें उनके अवान्तर भेद सम्मिलित कर दिये जाय तो उपान्त्य समयमें क्षय होनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या तिहत्तर हो जाती है। यद्यपि गाथामें किसी एक वेदनीयका नामोल्लेख नहीं किया है फिर भी गाथामें जो 'अपि' शब्द आया है उसके बलसे उसका ग्रहण हो जाता है।

अब अयोगकेवली गुणस्थानमें जिन प्रकृतियोंका उदय होता है यह बतलानेके लिये अगली गाथा कहते हैं—

अन्नयरवेयणीयं मणुयाउय उच्चगोय नव नामे।

वेएइ अजोगिजिणो उक्कोस जहन्न एक्कारं ॥६६॥

अर्थ—अयोगी जिन उत्कृष्टरूपसे किसी एक वेदनीय मनुष्यायु उच्चगोत्र और नामकर्मकी नौ प्रकृतियाँ इस प्रकार इन बारह प्रकृतियोंका वेदन करते हैं। तथा इनमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके कम हो जाने पर जघन्यरूपसे ग्यारह प्रकृतियोंका वेदन करते हैं।

विशेषार्थ—यह नियम है कि सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमे किसी एक वेदनीयकी उदय व्युच्छित्ति हो जाती है। यदि साताकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है तो अयोगी अवस्थामे असाताका उदय रहता है और यदि असाताकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है तो अयोगी अवस्थामे साताका उदय रहता है इसी बातको ध्यान मे रखकर गाथामे 'अन्यतर वेदनीय' कहा है। दूसरे गाथामे उत्कृष्टरूपसे बारह और जघन्यरूपसे ग्यारह प्रकृतियोंके उदय बतलानेका कारण यह है कि सब जीवोंके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता। जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया होता है उन्हींके उसका उदय होता है अन्यके नहीं, अत अयोगी अवस्थामें अधिकसे अधिक बारह और कमसे कम ग्यारह प्रकृति याका उदय बन जाता है। बारह प्रकृतियोका नामोल्लेख गाथामें किया ही है।

अब अगली गाथा द्वारा अयोगी अवस्थामे उदय योग्य नामकर्मकी नौ प्रकृतिया बतलाते हैं—

मणुयगइ जाइ तस बायर च पज्जत्तसुभगमाइज्ज ।
जसकित्ती तित्थयर नामस्स हवंति नव एया ॥६७॥

अर्थ—मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर ये नामकर्मकी नौ प्रकृतिया हैं जिनका अयोगी अवस्था मे उदय होता है।

मनुष्यानुपूर्वीकी सत्ता उपान्त्य समयतक होती है या अन्तिम समय तक आगे अगली गाथा द्वारा इसी मतभेदका निर्देश करते हैं—

तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
सत सगमुक्कोस जहन्नय बारस हवंति ॥६८॥

अर्थ—तद्भव मोक्षगामी जीवके अन्तिम समयमें उत्कृष्टरूपसे मनुष्यानुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियोंकी और जघन्यरूपसे बारह प्रकृतियोंका सत्ता होती है।

विशेषार्थ—पहले यह बतला आये हैं कि जिन प्रकृतियोंका अयोगी अवस्थामें उदय नहीं होता उनकी सत्त्वव्युच्छित्ति उपान्त्य समयमें हो जाती है। मनुष्यानुपूर्वीका उदय प्रथम, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें ही होता है अतः सिद्ध हुआ कि इसका उदय अयोगी अवस्थामें नहीं हो सकता और इसलिये पूर्वोक्त नियमके अनुसार इसकी सत्त्व व्युच्छित्ति अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमें बतलाई है। किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि मनुष्यानुपूर्वीकी सत्त्वव्युच्छित्ति अयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें होता है। उपर्युक्त गाथामें इसी मतभेदका निर्देश किया गया है। पूर्वोक्त कथनका सार यह है कि सप्ततिका प्रकरणके कर्ताके मतानुसार मनुष्यानुपूर्वीका उपान्त्य समयमें क्षय हो जाता है इसलिये अन्तिम समयमें उदयागत बारह या ग्यारह प्रकृतियोंका ही सत्त्व पाया जाता है। तथा कुछ अन्य आचार्योंके मतानुसार अन्तिम समयमें मनुष्यानुपूर्वीका सत्त्व और रहता है अतः अन्तिम समयमें तेरह या बारह प्रकृतियोंका सत्त्व पाया जाता है।

अन्य आचार्य मनुष्यानुपूर्वीका सत्त्व अन्तिम समयमें क्यों मानते हैं, आगे अगली गाथा द्वारा इसी बातका उल्लेख करते हैं— ,

मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीवविवाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिमभवियस्स खीयंति ॥६९॥

अर्थ—मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाकी क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ तथा कोई एक वेदनीय और उच्चगोत्र कुल मिला कर ये तेरह प्रकृतियाँ तद्भव मोक्षगामी जीवके अन्तिम समयमें क्षयको प्राप्त होती हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में बतलाया है कि मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी तथा कोई एक वेदनीय और उच्चगोत्र इन प्रकृतियों का अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय होता है। जो प्रकृतियाँ नरकादि भवकी प्रधानतासे अपना फल देती हैं वे भवविपाकी कही जाती हैं। जैसे चारों आयु। जो प्रकृतियाँ क्षेत्रकी प्रधानतासे अपना फल देती हैं वे क्षेत्रविपाकी कहलाती हैं। जैसे चारों आनुपूर्वी। जो प्रकृतियाँ अपना फल जीवमें देती हैं उन्हें जीवविपाकी प्रकृतियाँ कहते हैं। जैसे पाँच ज्ञानावरण आदि। प्रकृतमें भवविपाकी मनुष्यायु है। क्षेत्रविपाकी मनुष्यानुपूर्वी है। जीवविपाकी पूर्वोक्त नामकर्मकी नौ प्रकृतियाँ हैं। तथा इनके अतिरिक्त कोई एक वेदनीय और उच्चगोत्र ये दो प्रकृतियाँ और हैं।

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक इसी मतका उल्लेख है कि मनुष्यानुपूर्वी का चौदहवें गुणस्थानके अंतिम समयमें सत्त्वव्युच्छित्ति होती है। यथा—

'उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥ २४० ॥'

किन्तु धवला प्रथम पुस्तकमें सप्ततिकाके समान दोनों ही मतोंका उल्लेख किया है। देखो धवला प्रथम पु० पृ० २२४।

इस प्रकार ये कुल तेरह प्रकृतियाँ हैं जिनका क्षय भवसिद्धिक जीव के अन्तिम समयम होता है। पूर्वोक्त कथनका सार यह है कि मनुष्यानुपूर्वीका जब भी उदय होता है तो वह मनुष्यगतिके साथ ही होता है अत उसका क्षय भी मनुष्यगतिके साथ ही होता है। इस व्यवस्थाके अनुसार भवसिद्धिकके अन्तिम समयमें तेरह या तीर्थकर प्रकृतिके बिना बारह का क्षय होता है। किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि मनुष्यानुपूर्वीका अयोगी अवस्थामें उदय नहीं होता अत उसका अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमें ही क्षय हो जाता है। जो प्रकृतियाँ उदयवाली होती हैं उनका स्तिबुक-संक्रम नहीं होता अतएव उनके दलिक स्वस्वरूपसे अपने अपने उदयके अन्तिम समयमें दिखाई देते हैं और इसलिये उनका अन्तिम समयम सत्ताविच्छेद होता है यह बात तो युक्त है, परन्तु चारो आनुपूर्वी क्षेत्र विपाकी प्रकृतियाँ हैं उनका उदय केवल अपान्तराल गति म ही होता है इसलिये भवस्थ जीवके उनका उदय सम्भव नहीं और इसलिये मनुष्यानुपूर्वीका अयोगी अवस्थाके अन्तिम समयम सत्ताविच्छेद न होकर द्विचरम समयम ही इसका सत्ताविच्छेद हो जाता है। पहले द्विचरम समयम जो सत्तावन प्रकृतियोंका सत्त्वविच्छेद और अन्तिम समयमें जो बारह या तीर्थकर प्रकृतिके बिना ग्यारह प्रकृतियोंका सत्ताविच्छेद बतलाया है वह इसी मतके अनुसार बतलाया है।

इस प्रकार अयोगी अवस्थाके अन्तिमसमयमें कर्मोंका समूल नाश हो जानेके पश्चात् क्या होता है इसका अगली गाथा द्वारा विचार करते हैं—

अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं ।
अनिहणमव्वाबाहं तिरयणसारं अणुहवंति ॥ ७० ॥

अर्थ—कर्मोंका क्षय होजानेके पश्चात् जीव एकान्त शुद्ध, सम्पूर्ण, जगमें जितने सुख हैं उन सबमे प्रधान, रोगरहित, उपमा रहित, स्वाभाविक, नाशरहित बाधारहित और रत्नत्रयके सारभूत सिद्धि सुख का अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ इस गाथामें जब आत्मा आठो कर्मोंका क्षय हो जानेके पश्चात् मुक्त हो जाता है तब उसे कैसे सुखकी प्राप्ति होती है इसका विचार किया गया है। गाथामें सिद्धि सुखके नौ विशेषण दिये हैं। पहला विशेषण शुचिक है। मलयगिरि आचार्यने इसका अर्थ एकान्त शुद्ध किया है। भाव यह है कि ससारी जीवका सुख राग द्वेष से मिला हुआ रहता है। किन्तु सिद्ध जीवोंके राग द्वेषका सर्वथा अभाव हो गया है इसलिये उनके जो सुख होता है वह शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है उसमें बाहरी वस्तुका सयोग और वियोग तथा उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कारण नहीं पड़ती। दूसरा विशेषण सकल है जिसका अर्थ सम्पूर्ण होता है। बात यह है कि ससार अवस्थामें जीवके कर्मोंका सम्बन्ध बना रहता है इसलिये एक तो इसे आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती ही नहीं और कदाचित् सम्यग्दर्शनादिके निमित्तसे आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती भी है तो भी व्याकुलताका अभाव न होनेसे वह किंचिन्मात्रामें ही होती है किन्तु सिद्ध जीवोंके सब बाधक कारण दूर होगये हैं अत उन्हें पूर्ण सिद्धिजन्य सुख प्राप्त होता है। तीसरा विशेषण जगशिखर है। जिसका अर्थ है जगमें जितने सुख हैं सिद्ध जीवोंका सुख उन सबमें प्रधान है बात यह है कि आत्माके अनन्त अनुजीवी गुणोंमें सुख भी एक गुण है। अब जब तक यह जीव ससारमें वास करता है तब तक उसका यह गुण घातित रहता है। कदाचित् प्रकट भी होता है तो स्वल्प मात्रामें प्रकट होता है। किन्तु सिद्ध जीवोंके प्रतिबंधक कारणोंके

हैं। माना कि उसमें यथावस्थित अर्थका ही सुन्दरतासे प्रतिपादन किया गया है पर उसके अनेक भेद प्रभेद हैं अत पूरी तरह उसका मथन करना कठिन है। इसलिये हमसे जितना बन सका उसके अनुसार उसका अध्ययन करके यह ग्रन्थ निबद्ध किया है। जो विशेष अर्थके जिज्ञासु हैं वे उसका अध्ययन करें और उससे बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंके भेद प्रभेदोंको समझ लें।

अब अपनी लघुताको दिखलानेके लिये आचार्य अगली गाथा कहते हैं—

जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।

तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहंतु ॥ ७२ ॥

अर्थ—चूंकि मैं अल्प आगम का ज्ञाता हूँ या यह आगम का संक्षेप है इसलिये मैंने जिस प्रकरणमें जितना अपरिपूर्ण अर्थ निबद्ध किया है वह मेरा दोष है अत बहुश्रुत जन मेरे दोषको क्षमा करके और उस अर्थ की पूर्ति करके कथन करें।

विशेषार्थ—इस गाथामें अपनी लघुता प्रकट करते हुए आचार्य लिखते हैं एक तो मैं अल्पज्ञ हूँ या यह ग्रन्थ आगमका ... हैं। इस कारणसे बहुत सम्भव है कि इस ग्रन्थमें मैंने जो ... विवेचन की शृङ्खला बाँधी है वह स्खलित हो। यद्यपि यह जान बूझकर नहीं किया गया है पर ऐसा होना सम्भव है अत यह मेरा अपराध है। किन्तु जो बहुश्रुत जन हैं वे मेरे इस दोषको भूल जाय। यदा कदाचित् न भूल सकें तो क्षमा करें। और जिस प्रकरणमें जो कमी दिखाई दे उसे पूरा कर ले।

* हिन्दी व्याख्या सहित सप्ततिकाप्रकरण समाप्त *

हिन्दीव्याख्यासहित

सप्ततिकाप्रकरणके

परिशिष्ट

१ सप्ततिका प्रकरण की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

२ अन्तर्भाष्य गाथा-सूची

पज्जत्तगसन्नियरे अट्ठ चउक्क च वेयणियभगा।
सत्तग तिग च गोए पत्तेय जीवठाणेसु ॥ १ ॥
पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अमण सेसेसु।
अट्ठावीस दसग नवग पणग च आउस्स ॥ २ ॥
चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु एगे चउ गुणिसु वेयणियभगा।
गोए पण चउ दो तिसु एगऽट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥ ३ ॥
अट्ठच्छाहिगवीसा सोलस वीस च बार छ दोसु।
दो चउसु तीसु एक्क मिच्छाइसु आउगे भगा ॥ ४ ॥
बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीईसत्तत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥ ५ ॥
अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वंता बारस पणगा च अनियट्टे ॥ ६ ॥
अट्ठट्ठी बत्तीस बत्तीस सट्ठिमेव बावन्ना।
चोयाल चोयाल वीसा वि य मिच्छमाईसु ॥ ७ ॥
चउ पणवीसा सोलस नव चत्ताला सया य बाणउया।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बंधविही ॥ ८ ॥
अट्ठ य सय चोवट्ठिं बत्तीस सया य सासणे भेया।
अट्ठावीसाईसु सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥ ९ ॥
बत्तीस दोण्णि अट्ठ य बासीयसया य पच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा बावन्नेक्कारस सया य ॥ १० ॥

४ दिगम्बर परम्पराकी सित्तरी

[दिगम्बर परम्परामें प्राकृत पंचसंग्रहका सित्तरी एक प्रकरण है। इसमें भाष्यगाथाओंके साथ इस प्रकरणकी पाँचसौसे कुछ अधिक गाथाएँ हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये मूलप्रकरण यहाँ दिया जा रहा है। इससे उन्हें दोनों परम्पराओंके सित्तरी प्रकरणमें कहाँ कितना अन्तर है इस बातके जाननेमें सुविधा होगी। इस सित्तरीके मूलरूपके निश्चित करनेका यह अन्तिम प्रयत्न न होकर प्रथम प्रयत्न है, पाठक इतना ध्यान रखें।]

—सम्पादक

सिद्धपदेहिं महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
वोच्छं सुण संखेवं[1] णिस्संदं दिट्ठिवादादो॥ १॥
कदि बंधंतो वेददि कदि कदि वा पयडिठाणकम्मंसा।
मूलुत्तरपयडीसु य भंगवियप्पा दु बोहव्वा॥ २॥
अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा।
एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि॥ ३॥
सत्तट्ठुदय अट्ठोदयसंत तेरससु जीवठाणेसु।
एयम्मि पंच भंगा दो भंगा होंति केवलिणो॥ ४॥
अट्ठसु एयवियप्पा छासु वि गुणसण्णिदेसु दुवियप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं॥ ५॥

---

(१) मेरे मित्र पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्रीकी कृपासे पंचसंग्रह की हमें एक ही प्रति मिल सकी। प्रयत्न करने पर भी हम दूसरी प्रति प्राप्त नहीं कर सके। इसलिये जहाँ मूल गाथामें शब्द या व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि प्रतीत हुई वहाँ हमने यथासम्भव उसका सुधार कर दिया है।

—सम्पादक

बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥ ६ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दंसणावरणे ।
बंधे संते उदए दोण्णि य चत्तारि पंच वा होंति ॥ ७ ॥
उवरयबंधे संते संता णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणंते संतुदया चउ तेसु चयारि पंच वा उदयं ॥ ८ ॥
गोदेसु सत्त भंगा अट्ठ य भंगा हवंति वेयणिए ।
पण णव णव पण संता आउचउक्के वि कमसो दु ॥ ९ ॥
बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच ।
चदु तिय दुयं च एयं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥
छव्वावीसे चदु इगवीसे सत्तरस तेरे दो दोसु ।
णवबंधए वि दोण्णि य एगेगमदो परं भंगा ॥ ११ ॥
एक्कं व दो व चत्तारि तदो एगाधिया दसुक्कस्सा ।
ओघेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणाणि णव होंति ॥ १२ ॥
अट्ठयसत्तयछक्कयचदुतिगदुगएक्कअहियवीसा य ।
तेरस बारेयारं एत्तो पंचादि एगूणं ॥ १३ ॥
संतस्स पयडिठाणाणि ताणि मोहस्स होंति पण्णरस ।
बंधोदयसंते पुण भंगवियप्पा बहुं जाणे ॥ १४ ॥
बावीसादिसु पंचसु दसादि उदया हवंति पंचेव ।
सेसे [illegible] दोण्णि पुण एगेगमदो परं णेय ॥ १५ ॥
बारसपणउदिसएहुदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
ऊणत्तरिएयत्तरिपयविंदसएहिं विण्णेया ॥ १६ ॥
अट्ठादितियं बावीसे इगिवीसे अट्ठवीस कम्मंसा ।
सत्तारस तेरस णव बंधए अडचउतिगदुगेगहियवीसा ॥ १७ ॥

पंचविहे अइयारपुण्णइियंमीसा तेरसासेणाइ ।
मणविदसंघे सता पयट्टिग होंति ते चेव ॥ १८ ॥
गागु बईघविम व संसा अइयग्गपुर्णाइयमीय ।
ते पुण अट्ठिया जवा कमसो यासियपुराणेण ॥ १९ ॥
दयवयरवणामए बंधाइपमताइट्ठिसआणि ।
संजयाणि म इजिते इगा जाते पर यण्ठे ॥ २० ॥
तचीते पणुवीते छतीन अट्ठवीसगुणुन स ।
तीसयकतीसमेतं बंधट्ठाणाणि नामाण ॥ २१ ॥
इगिवाम पत्तीस पुणो इगितातं नि यवट्ठिय ।
इयवट्ठाणाणि मदा जाव अट्ठ च होंति नामाण ॥ २२ ॥
निद्दुइगिताणि ताणि अयपरुणट्ठियवीसयमाणि च ।
तामीणि अट्ठताणि गतणणि पव व जाव संता ॥ २३ ॥
अट्ठेगारस तेरस बंधाइयसंरयपट्ठिऊणाणि ।
आवेणाइतेम व कम्म अडासमय विभरो ॥ २४ ॥
जाय पंचोदयाणा तेवीय पंचवीस छवीते ।
अट्ठचमाट्ठवीसे जाव मणुगुणेण तीसमिय ॥ २५ ॥
घमेग इगितीसे पुणेगुरसइ मतसिय ।
उवरयसंघे पडम पेरपसंनहिय डाणाणि ॥ २६ ॥
निविपक्खपहिट्ठाणा बीसगुणमव्विहेसु कमेसु ।
भंगा पवमिसणा णाय मज्हा पवडिमसवो हवइ ॥ २७ ॥
तेरसमु जीवसंखेवएसु नाणंतराय निविपरो ।
एयडीम तिदुविगप्पो करमं पहि पुण्ण वविगप्पो ॥ २८ ॥
तेरे जाव पव पसय जाव सता पयडिम तेरह विपप्पा ।
पीयजीवसमासेहिं विभज्ज मोह परं वोच्छं ॥ २९ ॥

अट्ठसु पचसु एगे एय दुय दस य मोहबंधगए ।
तिय चउ णव उदयगदे तिय तिय पण्णरस संतम्मि ॥ ३० ॥
सत्तेव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया तिण्णि दु तह य असण्णी य सण्णी य ॥ ३१ ॥
पणय दुय पणय पणय चदु पण पणुदय सत्त पणय च ।
पण छक्क पणय छ छक्क पणय अट्ठट्ठमेयारं ॥ ३२ ॥
णाणावरणे विग्घे बंधोदयसत पंच ठाणाणि ।
मिच्छाइ दसगुणेसु खीणुवसंतेसु पंच संतुदया ॥ ३३ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दंसणावरणे ।
बंधे संते उदए दोण्णि य चत्तारि पंच वा होंति ॥ ३४ ॥
उवरयबंधे संते सत्त णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणंते संतुदया चउ तेसु चयारि पंच वा उदयं ॥ ३५ ॥
बावाल तेरसुत्तरसदं च पणुवीसय णियाणादि ।
वेदणियाउगगोदे मिच्छाइ अजोगिणं भंगा ॥ ३६ ॥
गुणठाणएसु अट्ठसु एगेगं बंधपयडिठाणाणि ।
पंचणियट्टिट्ठाणे बंधोवरमो परं तत्तो ॥ ३७ ॥
सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायण मीसए णवुक्कोसा ।
छादी अविरदसम्मे देसे पंचादि अट्ठेव ॥ ३८ ॥
विरए खओवसमिए चउरादि सत्त छक्क च णियट्टिम्मि ।
अणियट्टिबायरे पुण एक्को वा दो व उदयंसा ॥ ३९ ॥
एगं सुहुमसरागो वेदेदि अवेदगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं पुव्वुद्दिट्ठेण णायव्वं ॥ ४० ॥
एक्क य छक्केगारं एगारेगारसेव णव तिण्णि ।
एदे चउवीसगदा बारस दुगे पंच एगम्मि ॥ ४१ ॥

जे जत्थ गुणा उदया जाओ य हवंति तत्थ पयडीओ ।
जोगोवओगलेसादिएहि जिह जोगते गुणिज्जाहि ॥ ४२ ॥
तिण्णेगे एगेग दो मिस्स पच चदु णियट्टीए तिण्णि ।
दस बादरम्मि सुहुमे चत्तारि य तिण्णि उवसंते ॥ ४३ ॥
छग्गय छत्तिय सत्त य पण दुय तिय दु नियट्टि चदु ।
दुग दुग चउ दुय पण चउ चदुरेग चदुरजोग चदु ॥ ४४ ॥
अजोगमट्ठ अजोगमट्ठछदुमत्थ केवलिजिणाणं ।
एग चदुरेग चदुरो दो चदु दो छक्कमुदयंसा ॥ ४५ ॥
दो छक्कट्ठचउक्क णिरयादिसु पयडिबंधठाणाणि ।
पण णव दसय पणगं ति पण बारे चउक्क च ॥ ४६ ॥
इगि विगलिंदिय सयले पण पणय अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्क सत्त य उदए पण पण तेरे दु संतम्मि ॥ ४७ ॥
इय कम्मपयडिठाणाणि सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गदिआदिएसु अट्ठसु चउप्पयारेण णेयाणि ॥ ४८ ॥
उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो ।
मोत्तूण य इगिदालं सेसाणं सव्वपयडीणं ॥ ४९ ॥
णाणंतरायदसयं दंसण णव वेयणीय मिच्छत्तं ।
सम्मत्त लोभ वेदाउगाणि णव णाम उच्च च ॥ ५० ॥
तित्थयराहारविरहियाउ अज्जेदि सव्वपयडीओ ।
मिच्छत्तवेदओ सासणो य इगुवीससेसाओ ॥ ५१ ॥
छायालसेस मिस्सो अविरयसम्मो तिआलपरिसेसा ।
तेवण्णा देसविरदो विरदो सगवण्ण सेसाओ ॥ ५२ ॥
इगुसट्ठिमप्पमत्तो बंधइ देवाउगं च इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो छप्पण्णं वा वि छव्वीसं ॥ ५३ ॥

बासीदा एगूण वयइ अट्ठारस च अणियट्टी ।
सत्तरस सुहुमसरागो सायममोहो दु सजोई दु ॥ ५४ ॥
एसो दु बंधसामित्तओघो गदिआदिएसु बोद्धव्वो ।
ओघादो साहेज्जो जत्थ जहा पयडिसब्भवो होइ ॥ ५५ ॥
तित्थयरदेवणिरयाउगं च तीसु वि गदीसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ हवंति सव्वासु वि गदीसु ॥ ५६ ॥
पढमकसायचउक्कं दंसणतिय सत्तया दु उवसंता ।
अविरदसम्मत्तादो जाव णियट्टि त्ति णायव्वा ॥ ५७ ॥
सत्तावीसं सुहुमे अट्ठावीसं च मोहपयडीओ ।
उवसंतवीयराए उवसंता होंति णायव्वा ॥ ५८ ॥
पढमकसायचउक्कं एत्तो मिच्छत्त मिस्स सम्मत्तं ।
अविरद सम्मे देस विरद पमत्ते य खीयंति ॥ ५९ ॥
अणियट्टिबायरे थीणगिद्धितिग णिरय तिरियणामाओ ।
संखेज्जदिमे सेसे तप्पाओग्गा य खीयंति ॥ ६० ॥
एत्तो हणदि कसायट्ठयं च पच्छा णउंसयं इत्थी ।
तो णोकसायछक्कं पुरिसवेदम्मि संछुहइ ॥ ६१ ॥
पुरिसं कोहे कोहं माणे माणं च छुहइ मायाए ।
मायं च छुहइ लोहे लोहं सुहुमम्मि तो हणइ ॥ ६२ ॥
खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य हणइ छदुमत्थो ।
णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि ॥ ६३ ॥
देवगइसहगयाओ दुचरिमसमयभवियम्हि खीयंति ।
सविवागेदरमणुयगइ णाम णीचं पि एत्थेव ॥ ६४ ॥
अण्णयरवेयणीयं मणुयाऊ उच्चगोय णाम णव ।
वेदेदि अजोगिजिणो उक्कस्स जहण्णमेयारं ॥ ६५ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६७ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६८ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६९ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ७० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ७१ ॥

५. अनुवादगत पारिभाषिक शब्दोंका कोश

---

(१) यहाँ ऐसे ही शब्दोंका संग्रह किया गया है जिनकी परिभाषा है जिनके विषयमें विशेष कुछ कहा गया है।

६ सप्ततिकाके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा संकेत विवरण

अ० पंच सं०—अमितगतिका पंचसंग्रह, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ।

आप्तमीमांसा—जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता ।

आ० नि०—आवश्यकनियुक्ति, आगमोदय समिति सूरत ।

क० पा०
कसाय० } कसायपाहुड, अप्रकाशित ।

क० पा० चु०
कसाय चु०
कसाय० चुण्णि } कसायपाहुड चुण्णि, अप्रकाशित ।

कर्मप्रकृति
कम्मप० उद०—कर्मप्रकृति उदय
कम्मप० उदी०—कर्मप्रकृति उदीरणा
कम्मप० उप०—कर्मप्रकृति उपशमना
कम्म प० बंधोद०—कर्मप्रकृति बंधोदयसत्त्व } मुक्ताबाई ज्ञान-मन्दिर डभोई ।

कर्मस्तव—आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरा ।

गो० कर्म०—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, रायचन्द्र जैन, शास्त्रमाला बम्बई ।

गोम्मटसार जीवकाण्ड— " " "

चूर्णि—चूर्णिसहित सित्तरी, पाटन गुजरात ।

जयध०—जयधवला अप्रकाशित ।

जी० चू० ट्टा० } जीवस्थान चूलिका स्थानसमुत्कीर्तन जैन साहि
जी० चू० } द्वारक फण्ड अमरावती।
त० सू०— तत्त्वार्थसूत्र सूरत।
द्रव्य०— द्रव्यसंग्रह „
धवला— } अप्रकाशित
धव० उद० आ० } धवला उदय आरा प्रति अप्रकाशित
धव० उदी० आ० } „ उदीरणा, „ „
पञ्चसंग्रह प्राकृत—अप्रकाशित।
पञ्च० सप्त० } पञ्चसंग्रह सप्ततिका, मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर ड
पञ्चस० सप्तति० }
प० क० ग्र०—पञ्चम कर्मग्रन्थ, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक
आगरा।
पञ्चास्तिकाय—रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई।
प्रकरणरत्नाकर—प्रकाशक श्री भीमसी माणक बम्बई।
प्रज्ञापना—
प्रमेयकमलमार्तण्ड—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
प्रवचनसार—रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई।
मल० सप्त० टी०—मलयगिरि सप्तति टीका, श्री जैन आत्मानन्द
भावनगर।
मोक्षमार्गप्रकाश—अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई।
राजवार्तिक—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी
कलकत्ता।
रामचरितमानस—बनारस।
विशेषणवती—श्वेताम्बर संस्था रतलाम।